

१०

राष्ट्र-प्रहरी
आर्यसमाज

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल

आज हम जिस महापुरुष का स्मरण कर रहे हैं उसका जन्म १८ अप्रैल सन् १८६४ में और निधन १५ नवम्बर सन् १९३८ को हुआ था। उनके परलोक-प्रयाण की घटना को भी आज लगभग आधी सदी होने को आई। वह महापुरुष अपनी भरी जवानी में जिस अपूर्व त्याग का संकल्प लेकर डी.ए.वी. आन्दोलन को प्राणवान बनाने के लिये अपने प्राणों के रस का इंजेक्शन दे रहा था, आज उस आन्दोलन की भी शताब्दी के समारोह का अवसर है। काल-गणना की दृष्टि से सदी या आधी सदी महाकाल का निषिद्ध-मात्र है। परन्तु इस कालावधि में जिस व्यक्ति ने अपनी आत्मा के प्रकाश से आन्दोलन को तेजस्वी बनाया, आज वह आन्दोलन विशाल वट-वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। जब नदी की धारा प्रारम्भ होती है तो उसकी शुरुआत इतनी संकुचित होती है कि बच्चे भी उसको आसानी से पार कर सकते हैं। परन्तु धीरे-धीरे जब वही धारा महानदी का रूप धारण कर लेती है तो बड़े से बड़े तैराक के लिये भी उसे तैर कर पार करना आसान नहीं होता।

आज डी.ए.वी. आन्दोलन की भी बहुत कुछ वही स्थिति बनती चली जा रही है। न केवल देश में बल्कि विदेशों में भी इस आन्दोलन का प्रसार हो रहा है और देश में जिस तेजी से यह आन्दोलन लोकप्रियता के नये आयाम छूता जा रहा है, उससे शत्रु और मित्र सभी चकित हैं। परन्तु उस विस्तार ने डी.ए.वी. आन्दोलन के साथ सम्बद्ध समस्त कार्यकर्ताओं के लिये एक चुनौती का अवसर भी उपस्थित कर दिया है।

प्रायः देखा जाता है कि जब किसी वस्तु की मात्रा बढ़ने लगती है तो उसकी गुणवत्ता में कमी आती चली जाती है। 'क्वान्टिटी' और 'क्वालिटी' का यह शाश्वत विरोध है। परन्तु यह विरोध क्यों होना चाहिये? असली चुनौती यही है कि डी.ए.वी. आन्दोलन का अधिकाधिक विस्तार होने पर भी इस आन्दोलन की उस गुणवत्ता में कमी नहीं आनी चाहिये, जिस गुणवत्ता के कारण आन्दोलन ने जनता के हृदयों पर अपना आसन जमाया है। उसका केवल एक ही उपाय है, और वह उपाय यह है कि आन्दोलन के श्रीगणेश के दिनों में जिन महापुरुषों

ने अपने त्याग और तपस्या के जल से आन्दोलन को सीधा और अपने अधिक परिश्रम की खाद इसमें डाली, उस श्रम और त्याग-तपस्या की विद्यमानता में कमी न हो।

इस दृष्टि से पुण्य-श्लोक महात्मा हंसराज का स्मरण करते ही गीता का निम्न श्लोक मस्तिष्क में उभर आता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्यृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

अर्थात् दुःखों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों में जिसकी कोई इच्छा नहीं है और जिसके मन में से आसक्ति, भय और क्रोध निकल गया है वह व्यक्ति स्थित-प्रज्ञ मुनि कहलाता है। जिस व्यक्ति में यह गुण नहीं होते, वह व्यक्ति सार्वजनिक जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक सामाजिक कार्यकर्ता को इन गुणों का कुछ न कुछ अंश तो अपनाना ही पड़ता है, परन्तु जिस व्यक्ति में इन गुणों का विकास पराकाष्ठा तक पहुंच गया हो वे व्यक्ति न केवल वरेण्य हैं, प्रत्युत सबके प्रणम्य भी हैं। महात्मा हंसराज ने अपने जीवन के द्वारा त्याग और तपस्या का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह चिरकाल तक उस प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा जो किसी भी रूप में डी.ए.वी. आन्दोलन के साथ जुड़ा है। डी.ए.वी. आन्दोलन के साथ जुड़ा ही क्यों, बल्कि समाज और राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिये वह प्रेरणा का अच्छा स्रोत है। इसी त्यागवृत्ति के कारण वे महात्मा और त्याग-मूर्ति कहलाये। ये विशेषण किसी विश्वविद्यालय द्वारा दी गई डिग्रियां नहीं हैं, न ही सरकार द्वारा दिए गए पदमश्री और पदमभूषण आदि अंलकरणों की तरह केवल अलंकरण हैं, बल्कि ये विशेषण तो जनता के मन में उद्भूत उस श्रद्धा के प्रतीक हैं जो उनके जीवन को देखकर उन्हें प्रेरित करती थी। परन्तु लोग उन आदर्शों का पालन करने में अपने आपको असमर्थ पाते थे।

महात्मा हंसराज जी का जीवन ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। जब भी श्रद्धा से अभिभूत होकर कोई सज्जन उनके लिये कोई भेंट या उपहार लाते थे, वे अत्यन्त विनप्रतापूर्वक उन्हें अस्वीकार कर देते थे। एक बार एक धनिक व्यक्ति उनके फटे हुए कम्बल को देखकर उनके लिये दो बढ़िया शाल ले आया, परन्तु उसके अधिक आग्रह करने पर भी महात्मा जी ने वे शाल स्वीकार नहीं किए और वे दोनों शाल कालेज के कोष में अर्पण कर दिए। एक बार एक मित्र आगरे से संगमरमर का एक सुन्दर कलमदान लेकर आए और महात्मा जी की अनुपस्थिति में उनके घर पर रख आये। अगले दिन जब वे कालेज गए तो उन्होंने देखा कि वही कलमदान महात्मा जी के घर में नहीं बल्कि कालेज की मेज पर विद्यमान्

है। एक बार एक आर्य समाज के उत्सव पर किसी ने महात्मा जी को चाय का एक बण्डल और कुछ बादाम भेट किए तो दोनों चीजें उन्होंने तुरन्त वहीं की वहीं बांट दीं। जब महात्मा हंसराज जी के ज्येष्ठ पुत्र पर राजद्वोह का अभियोग चल रहा था तो उनके केस की पैरवी के लिये उस समय के प्रसिद्ध वकील और बंगाल के महान नेता श्री चितरंजन दास का, और एक अंग्रेज वकील मिस्टर नॉर्टन का नाम प्रस्तुत किया गया। श्री दास की फीस आठ हजार रुपये मासिक थी और मिस्टर नॉर्टन की फीस तो इससे भी कहीं अधिक थी। मित्रों ने इस कार्य के लिये यह धन एकत्र भी कर लिया। परन्तु महात्मा जी ने उस सहायता को लेना स्वीकार नहीं किया। उन दिनों सब कालेजों में स्मिथ नामक अंग्रेज के लिखे हुए 'भारतवर्ष का इतिहास' की बहुत धूम थी। उस इतिहास के प्रकाशकों ने महात्मा जी के पास अपना प्रतिनिधि भेजकर उनसे निवेदन किया कि आप इस इतिहास में थोड़ा इधर-उधर कुछ संशोधन करके अपना नाम इस पुस्तक पर संशोधक के रूप में देने की अनुमति प्रदान करें तो इसके लिये आपको ५०,००० रुपये की रॉयलटी दी जायेगी। प्रकाशक जानते थे कि समस्त शिक्षा जगत् में महात्मा हंसराज का नाम खरे सिक्के की तरह चलता है, इसलिये वे उनके नाम का लाभ उठाकर उस पुस्तक को अधिकाधिक संख्या में विक्रय करना चाहते थे। परन्तु महात्मा जी ने इस प्रलोभन को ठुकरा दिया।

उनका यह त्याग केवल इसी दिशा में नहीं, बल्कि अन्य अनेक दिशाओं में भी इस तरह फैला हुआ है कि यदि आज उसका अनुसरण किया जा सके तो हमारे देश की सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र की बहुत सारी समस्याओं का समाधान हो सकता है। जब सन् १९११ में लाहौर के डी.ए.वी. कालेज को स्थापित हुए २५ वर्ष व्यतीत हो गए और कालेज की रजत-जयन्ती खूब धूमधाम से मनाई गई तो यह महात्मा हंसराज ही थे जो कालेज को यश के शिखर पर पहुंचा कर उसके आचार्य-पद से त्यागपत्र देने पर कटिबद्ध हो गये। उन्हें बहुत मनाया, परन्तु वह स्थितप्रज्ञ मुनि जिस तरह वित्तैषणा और पुत्रैषणा से ऊपर उठ चुका था, उसी प्रकार उस लोकैषणा के पाश से भी अपने आपको ऐसे मुक्त कर बैठा जैसा कोई सन्यासी भी नहीं कर पाता। लोकैषणा की इस वृत्ति पर कुठाराघात उन्होंने तब भी किया, जब डी.ए.वी. कालेज कमेटी के छः वर्ष तक लगातार प्रधान रहने के पश्चात् उन्होंने उससे त्यागपत्र दे दिया और लोगों के अत्यन्त आग्रह पर भी अपने निश्चय से टस से मस नहीं हुए। उसके बाद जब आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के प्रधान बने तो समाज-सेवा और वैदिक धर्म के प्रचार में जुट गए, और जब सभा अपने पांव पर पूरी तरह खड़ी हो

गई और उसका काम सुचारू रूप से चलने लगा, तब उन्होंने सन् १९३७ में सभा के प्रधान—पद से भी उसी वीतराग—वृत्ति से त्याग—पत्र दे दिया।

जिस व्यक्ति ने जीवन भर कहीं एक गज जमीन का टुकड़ा नहीं खरीदा, अपनी कहीं जाने योग्य एक कुटिया तक नहीं बनाई, और अपने बाप—दादाओं की विरासत के रूप में जो मकान उत्तराधिकार में मिला था, उसकी मरम्मत कराने के लिये भी पैसों के अभाव में जिसने कभी हिम्मत नहीं की, जिस व्यक्ति ने जीवन भर अपने बड़े भाई द्वारा अपनी तनखाह के आधे हिस्से के रूप में दी जाने वाली राशि के रूप में केवल ४० रु० मासिक पर गुजारा किया, जो व्यक्ति वर्षों तक चार रूपये महीने किराये के मकान में रहता रहा; उस व्यक्ति का तप और त्याग, गृहस्थियों की तो बात ही छोड़ो, संन्यासियों के लिये भी ईर्ष्या की वस्तु है। लाला देशराज ने “आर्य गजट” नामक पत्र में एक घटना का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—एक बार महात्मा जी का बड़ा पुत्र बलराज बचपन में एक आना लेने की ज़िद कर बैठा। तब पास बैठे शाहबाद के श्री रामप्रसाद नामक महानुभाव ने अपनी जेब से एक आना निकाल कर बलराज की हथेली पर रख दिया। इस पर महात्मा हंसराज ने उनसे कहा—“रामप्रसाद जी आपने यह ठीक नहीं किया। आज तो आपने बालक को एक आना दे दिया। कल अगर यह इसी प्रकार की ज़िद करेगा तो एक आना कौन देगा?”

महात्मा हंसराज ने किसी विवशता के कारण नहीं, प्रत्युत अपनी आदर्शप्रियता के कारण ही यह निर्धनता और तपस्या का जीवन स्वीकार किया था। उनका संकल्प—बल इतना प्रबल था कि प्रबल सांसारिक झंझावातों से भी उनकी यह आत्म—ज्योति कभी मन्द नहीं पड़ी। शुद्धि—आन्दोलन के दिनों में जब आगरा, भरतपुर और मथुरा के मलकाने राजपूतों की शुद्धि का अवसर आया तो उनकी यह तपस्या और भी निखर कर सामने आई। ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप, भीलों की पदयात्रा, न खाने का कोई निश्चित समय और न सोने का या विश्राम का निश्चित समय; वे एक लोटा, गुड़ तथा जौ का सत्तु साथ में लेकर चलते थे। तीन महीने तक लगातार यही क्रम चलता रहा। शरीर के साथ इस ज्यादती का परिणाम ही अस्वस्थता के रूप में भोगना पड़ा। परन्तु वे शरीर के पीछे आत्मा को चलाने वाले नहीं थे, प्रत्युत आत्मा के पीछे शरीर को चलाने वाले थे। ऐसे आत्मस्थ व्यक्ति की उपमा समाधि में लीन उस योगी से की जा सकती है जिसके लिये कहा गया है—

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।

जैसे किसी निर्वात स्थान में कोई निष्कम्प दीप-शिखा जल रही हो, उसी प्रकार योगी अपनी आत्म-ज्योति से स्वयं भी प्रकाशित होता है और औरों को भी प्रकाशित करता है। यह तिल-तिल करके जलना कितना कठिन है। कवि ने कहा है—

मंसूर से यह कह दो कि मरना नहीं मुहाल।
मर-मर के फिक्रे-कौम में जीना मुहाल है॥

‘मधुर—मधुर मेरे दीपक जल’ वाली यह दीप-शिखा वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिये चिरन्तन प्रेरणा का स्रोत बने।

१८ अप्रैल १९८७



“शिक्षक का असली काम प्रेम से बच्चों की ज़िन्दगी सुधारना ही है। माता—पिता बालक के जन्म के लिए बेशक उत्तरदायी हैं, पर उसे संस्कारवान् बनाकर दूसरा जन्म देने के लिए, द्विज बनाने के लिए गुरु ही उत्तरदायी है। इसलिए शास्त्रों में गुरु की इतनी महिमा गाई गई है। भक्तजनों ने गुरु को न केवल ईश्वर के समकक्ष रख दिया है, बल्कि उससे भी ऊंचा दर्जा दिया है, क्योंकि:

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, का के लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय॥

पर जब गुरु अपने आपको ईश्वर का अवतार बताकर पूजा करवाने में और शिष्यों का धन लूटकर अपनी जिन्दगी को ऐश—आराम से गुजारने में ही अपनी गुरुआई की सार्थकता समझता हो, तब गुरुडम किस प्रकार पाखंड को जन्म देता है, उसके अनेक उदाहरण हमारे तथाकथित धर्मगुरुओं ने उपस्थित कर दिए हैं।

आजकल के शिक्षक नई पीढ़ी को दोष देते हैं, और नई पीढ़ी शिक्षकों को ही कसूरवार ठहराती है। जूता यदि ठीक नाप का हो, तो आराम देता है, अगर कसा हो, तो चुभता है; और अगर ढीला हो, तो ठोकर लगती है। शिक्षा—प्रणाली का असली प्रयोजन तो सही नाप से है। वह सही नाप परस्पर दोषारोपण से नहीं आता। शिक्षक और छात्र दोनों एक—दूसरे के बिन्ब—प्रतिबिन्ब हैं। शिक्षक भी कभी स्वयं छात्र रहे थे। उनका जीवन अपने गुरुओं का प्रतिबिन्ब था, तो आज के छात्रों का जीवन अपने गुरुओं के जीवन का प्रतिबिन्ब है। एक शायर की उक्ति याद आती है—

आइना उठा लाये और अक्स से यूँ बोले।
क्यों बात नहीं करता है, जो तू है वही मैं हूँ॥

—‘फिर इस अन्दाज़ से बहार आई’, पृष्ठ १०२-३

राजनीति का शिखर-पुरुष आर्य-नेता

२६ मई की आधी रात को चौ० चरण सिंह का देहावसान हो गया। यह एक आर्य नेता का देहावसान है, जो भारत की राजनीति में अपने आपको आर्य—समाजी कहते हुए भी भारत की राजनीति के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचा था। बीसवीं सदी के उषाकाल में (१९०२ में) जन्म लेने वाले इस व्यक्ति ने लगभग साठ साल तक देश और समाज की जो सेवा की, उसके पीछे महात्मा गांधी की प्रेरणा तो थी ही, परन्तु वास्तविक मूल प्रेरणा ऋषि दयानन्द के विचारों और आर्य—समाज के सिद्धांतों की थी। अपनी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात्, मेरठ के नूरपुर नामक ग्राम में जन्मा, यह देहाती किसान बातचीत में यह स्वीकार करता था कि जब मैंने सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण किया तब मैं अपने जीवन का उद्देश्य गांव—गांव में आर्य—समाज के प्रचार को ही बनाना चाहता था। परन्तु देश की गुलामी और उधर महात्मा गांधी की आंधी ने कुछ ऐसा आन्दोलित किया कि मन में पहले देश को आज़ाद कराने की धुन सवार हो गई और सोचा कि पहले इस काम से निपट लें, फिर आर्य समाज के प्रचार के लिये तो जीवन लगाना ही है। महात्मा गांधी के आन्दोलन के प्रति वह आकर्षण भी उस युग में प्रायः प्रत्येक आर्य—समाजी के लिये उसी रूप में उपस्थित हुआ था और इसलिये न जाने आर्य—समाज के कितने अनुयायियों ने छिपे या गैर-छिपे तरीके से उस आन्दोलन में सहयोग दिया था। उसी लहर का असर चौधरी चरण सिंह के ऊपर भी था। इस लहर में अपना सब कुछ झोंक देने की आकांक्षा जहां आर्य—समाजियों के मन में सहज देशभक्ति के कारण पैदा होती थी, वहां उसका एक मुख्य पहलू यह भी था कि महात्मा गांधी का आन्दोलन सत्य और अहिंसा पर आधारित था। इसलिये प्रत्येक आर्य—समाजी उस आन्दोलन में हिस्सा लेना अपना नैतिक और धार्मिक कर्तव्य समझता था।

परन्तु राजनीति का राजपक्ष बड़ा टेढ़ा है। वह जहां अनेक लोगों के मन में नई—नई आकांक्षायें जगाता है, वहां पुरानी आकांक्षाओं को कुचलने में भी संकोच नहीं करता। इसलिये समझदार लोग राजनीति को काजल की कोठरी कहते हैं। हम यह तो नहीं कहते कि काजल की कोठरी में रहकर चौधरी चरण सिंह के

हाथ और मुँह पर कभी कालिख नहीं लगी, परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि राजनीति में रहकर भी उनके जैसा ईमानदार और भ्रष्टाचार से मुक्त व्यक्ति मिलना कठिन है। बल्कि बहुत सारे महारथी तो उनके ऊपर आरोप यही लगाते हैं कि वे राजनीति में रहकर भी सदा निरे देहाती किसान जैसे ही बने रहे—वैसे ही ज़िददी, वैसे ही भोले, वैसे ही नासमझ और वैसे ही औरों पर विश्वास करने वाले। राजनीति के खिलाड़ी जो न कहें सो थोड़ा और जो न करें सो थोड़ा। जिस तरह यह कहावत है—‘प्रभुता पाय काहि मद नाहीं’, उसी प्रकार राजनीति में पड़कर विरला ही कोई व्यक्ति होगा जिसका हुलिया न बिगड़ गया हो। चौ० चरण सिंह ने भी अपने समय में राजनीति खूब खेली है और यश—अपयश दोनों समान रूप से झेले हैं। परन्तु कुछ बातों में वे ऐसे हैं कि उनकी तुलना किसी अन्य राजनीतिज्ञ से नहीं की जा सकती।

उनके निधन के पश्चात् जितने भी लोगों ने उनको श्रद्धांजलि दी है, उन्होंने उनको किसानों का और दलित वर्गों का मसीहा कहा है। परन्तु उनके आर्य—समाजी होने के पहलू की किसी नेता ने चर्चा नहीं की। इसलिये हम जानबूझ कर उक्त पहलू को सामने ला रहे हैं और यह कहना चाह रहे हैं कि सर छोटू राम के पश्चात् जिस व्यक्ति ने देश भर के समस्त जाटों, किसानों, मज़दूरों और श्रमिकों की समस्याओं को वाणी दी और अपने व्यक्तित्व के जादू से अपने अनुयायियों की जितनी बड़ी विशाल रैली बोट कलब पर आयोजित की, उतना बड़ा जनसमूह आज तक अन्य कोई व्यक्ति एकत्रित नहीं कर सका। इस व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण का कारण केवल राजनीति नहीं थी, प्रत्युत उसकी सच्चरित्रता और ईमानदारी का भी बहुत बड़ा हाथ था। अगर हम यह कहें कि उनकी ईमानदारी आर्य—समाज की देन थी तो राजनीति—जीवी और केवल उठा—पटक में विश्वास करने वाले नेतागण हमें क्षमा करेंगे। छुआछूत और जातपात के विरुद्ध चौधरी चरण सिंह के मन में कितना आक्रोश था, इसे केवल जानकार लोग ही जानते हैं। अन्य राजनैतिक नेता इस दृष्टि से उनके पासिंग भी नहीं ठहरते। जब महात्मा गांधी ने हरिजनोद्धार आन्दोलन प्रारम्भ किया तभी से चौधरी चरण सिंह ने अपने घर में सेवक के रूप में हरिजनों को रखना प्रारम्भ कर दिया था। उत्तर प्रदेश में वित्त—मंत्री के रूप में जहां उन्होंने जर्मींदारी—उन्नूलन और भूमि सुधार आन्दोलन के कानून को लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, वहां एक देन उनकी ऐसी है जिसको उत्तर प्रदेश कभी भूल नहीं सकता। परन्तु अन्य राजनैतिक नेताओं ने उस पर ध्यान नहीं दिया। जब उत्तर प्रदेश में चौधरी साहब मुख्यमंत्री बने तब उन्होंने जात—बिरादरी के आधार पर बनी सब शिक्षा—संस्थाओं को आदेश दिया कि कोई भी संस्था अपने नाम के आगे कोई जातिवाचक नाम नहीं लगा सकती।

उससे पहले देश के हर वर्ग ने अपनी जाति के नाम से अलग—अलग स्कूल और कालेज खोल रखे थे। वर्ग—विहीन और समतामूलक समाज के निर्माण में चौ० साहब के इस योगदान को यह देश कभी भूल नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित और परिचमी सम्यता की उन्नति से प्रभावित होकर उसी दिशा में भारत को ले जाने की परम्परा प्रारम्भ करने वाले पं० जवाहर लाल नेहरू से चौधरी साहब का हमेशा इस बात पर मतभेद रहा और वे हमेशा यह कहते रहे कि भारत को औद्योगिक ऋण की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी यहां खेती को सुधारने की ओर ग्रामोद्योगों को महत्व देने की आवश्यकता है। परन्तु ऐसा लगता है कि इस आन्दोलन में चौधरी साहब अकेले पड़ गये। उन्होंने अपनी पुस्तकों और भाषणों के द्वारा नेहरू—नीति का खण्डन करने में कसर नहीं छोड़ी। इसी कारण देहाती किसानों में वे जितने लोकप्रिय होते गये उतने ही शहरी उद्योग—कर्मियों में अलोकप्रिय भी होते गये। पाठक भूले नहीं होंगे कि जब एशियाई खेलों के आयोजन के लिये नई दिल्ली को सजाने—संवारने और लन्दन तथा पैरिस की नकल पर दुनिया के नवशे में भारत की राजधानी को स्थापित करने की होड़ चल रही थी, तब एक चौधरी चरण सिंह ही थे जिन्होंने यह कहा था कि जिस प्रकार नई दिल्ली को पंचतारांकित होटलों और ओवर—ब्रिजों से सजाकर नई नवेली दुल्हन की तरह प्रदर्शन की वस्तु बनाने के लिये दस अरब रुपया खर्च किया गया है, अगर इतनी बड़ी राशि मुझे मिलती तो मैं गांव—गांव में उससे महिलाओं के लिये शौचालय बनवाता, या पीने के पानी की व्यवस्था करता। अन्य राजनैतिक नेताओं और चौ० चरण सिंह के चिन्तन का भेद इसी एक उदाहरण से पता लग सकता है।

राजनीति में वे नेहरू की बजाय पटेल के अनुयायी माने जाते थे और वैसी ही उनमें दृढ़ता थी। उनकी उस दृढ़ता के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु एक बार भारत का प्रधानमंत्री बनने के लिये जिस प्रकार वे इन्दिरा गांधी की राजनीति का मोहरा बन गये, वह उनके देहाती भोलेपन की निशानी है। अपने जीवन के लगातार ८५ वर्ष तक बीसवीं सदी को नापने वाले इस आर्य नेता के दिवंगत होने के साथ ही पुरानी पीढ़ी का एक स्तम्भ क्या गिर गया कि जैसे २१वीं सदी का राग अलापने वालों के पथ का एक अवरोध ही समाप्त हो गया।

अन्त में आर्य जनता को यह भी याद दिलाना चाहते हैं कि यहीं चौ० चरण सिंह जब केन्द्रीय सरकार में वित्त मंत्री थे, तब “आर्य जगत्” के सम्पादक को उनसे पुरस्कृत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यद्यपि तब हम आर्य जगत् में नहीं थे। परन्तु चौ० साहब ने सार्वदेशिक सभा की ओर से प्रकाशित ‘दयानन्द दिव्य—दर्शन’

नामक पुस्तक का विमोचन करते हुए उसके लेखक को सार्वजनिक रूप से एक शाल और ₹० १०००/- का पुरस्कार देकर सम्मानित किया था और पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। भविष्य में अपने आर्य-समाजी होने का दम भरने वाला कोई व्यक्ति भारत के प्रधान मंत्री के पद तक पहुंच पायेगा या नहीं, अब यह देखना है।

७ जून १९८७



आर्यसमाज चारों वर्णों को समाज का आवश्यक अंग मानता है और जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की प्राप्ति की दृष्टि से सबको समानता के स्तर पर रखता है। अर्थात् जहां तक रोटी, कपड़ा और मकान का सम्बन्ध है, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी के लिए समान रूप से आवश्यक हैं; और इनकी प्राप्ति में किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। परन्तु जहां तक सामाजिक प्रतिष्ठा का सम्बन्ध है, वह सबसे अधिक मात्रा में उन लोगों को उपलब्ध होगी, जो अपना सारा जीवन ज्ञान की उपासना में लगाएंगे। जितने भी कलाकार, लेखक, अध्यापक, वैज्ञानिक और सरस्वती के साधक हैं, और जो समाज के अज्ञान का निराकरण करते हैं, वे सब के सब ब्राह्मण कहलाएंगे; फिर चाहे उनका जन्म किसी कुल में क्यों न हो।

सामाजिक प्रतिष्ठा में दूसरा स्थान होगा उन क्षत्रियों का, जो बल की उपासना करते हैं और अन्याय का प्रतिकार अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। सैनिक, योद्धा और राजकीय प्रशासनिक सेवाओं के कर्मचारी इस कोटि में आते हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा में तीसरा स्थान होगा धन की उपासना करने वाले और उसी में रत रहने वाले वैश्यों का। व्यापारी, उद्योगपति, दुकानदार और अधिकांश नौकरीपेशा लोग भी इसी कोटि में आएंगे। वे सब समाज के भौतिक अभावों की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं।

ज्ञान, बल और धन की उपासना करने वाले उक्त तीनों वर्णों में भी मूल प्रेरणा स्वार्थ की नहीं, प्रत्युत परार्थ की ही है। सार-रूप से यों कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति राष्ट्र की अविद्या को दूर करने का प्रयत्न करेंगे वे, ब्राह्मण, जो अन्याय को दूर करने का प्रयत्न करेंगे, वे क्षत्रिय, और जो व्यक्ति राष्ट्र में प्रसृत अभाव की समस्या को हल करने का व्रत लेंगे वे वैश्य कहलाएंगे। जो व्यक्ति राष्ट्र की अविद्या, अन्याय या अभाव की समस्या को हल करने में विशिष्ट योग नहीं दे सकता और केवल अपना शरीर-श्रम ही समाज की सेवा में अर्पित कर सकता है, वह शूद्र कहलाएगा। समाज के लिए ये चारों समान रूप से उपयोगी हैं। एक भी अंग के विच्छृंखित हो जाने पर समाज-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाएगी।

—‘चयनिका’, पृष्ठ ६४

मॉरिशास और डी०ए०वी०

डी०ए०वी० आन्दोलन के शताब्दी-वर्ष में जिस तीव्र गति से इस आन्दोलन का विस्तार होता जा रहा है, वह जहां प्रत्येक आर्य-समाजी के लिए हर्ष का विषय है, वहां डी०ए०वी० आन्दोलन से जुड़े कार्यकर्ताओं के लिए यह एक बहुत बड़ी चुनौती का अवसर भी है। अभी तक डी०ए०वी० संस्थाओं का विस्तार भारतवर्ष की सीमाओं के अन्दर ही होता रहा है। यह ठीक है कि उत्तर भारत से आगे बढ़कर अब पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी भारत में भी डी०ए०वी० संस्थाओं का प्रवेश हो चुका है। डी०ए०वी० कालेज प्रबन्धक-समिति की दृष्टि में वह समय शीघ्र आने वाला है जब भारत वर्ष के प्रत्येक राज्य की राजधानी में कोई न कोई प्रतिष्ठित डी०ए०वी० संस्था अवश्य होगी। कालेज-कमेटी के पास विभिन्न प्रदेशों से जिस प्रकार मांग आ रही है और उन प्रदेशों के निवासी अपनी ओर से अपने यहां डी०ए०वी० संस्था खोलने के लिये जिस प्रकार सब तरह से सहायता करने के लिए उद्यत हो रहे हैं, उससे वह संकल्प पूरा होने में बहुत अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी।

परन्तु डी०ए०वी० के वर्तमान संचालक अपनी संस्थाओं के इस भारत-व्यापी विस्तार से ही संतुष्ट नहीं थे। उनके मन में यह प्रबल आकांक्षा थी कि किसी तरह समुद्रों के पार विदेशों में भी डी०ए०वी० संस्थाएं स्थापित हों। कहां वह समय था जब भारत के धर्मधर्वजियों ने समुद्र-यात्रा को पाप करार दिया था। और तो और, समुद्र-यात्रा की बात छोड़ दें, पौराणिक पंडितों ने काशी के ब्राह्मणों को ब्रह्मपुत्र के पार जाना भी वर्जित कर रखा था। समुद्र-यात्रा से पाप होने की यह भावना हिन्दू समाज में इतनी दृढ़ थी कि उस युग में जिस किसी ने किसी भी उद्देश्य से समुद्र-यात्रा की, उसे हिन्दू समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। बंगाल के प्रसिद्ध कवि और “मेघनाद-वध” जैसे प्रौढ़ प्रबन्ध-काव्य के रचियता माइकल मधुसूदन दत्त को केवल इसलिए हिन्दू समाज से बहिष्कृत होकर ईसाई धर्म स्वीकार करना पड़ा, क्योंकि उन्होंने विलायत जाकर शिक्षा प्राप्त की थी। यही बात बंगाल की प्रसिद्ध कवियत्री तोरु दत्त के साथ भी हुई थी। भला हो महर्षि दयानन्द का जिन्होंने केवल यही नहीं कहा कि समुद्र यात्रा पाप नहीं है, बल्कि अपने शिष्यों को विदेश

जाने के लिए प्रेरित भी किया। श्याम जी कृष्ण वर्मा को विलायत भेजने में सबसे प्रमुख कारण महर्षि दयानन्द ही थे।

जब से भारतीयों ने समुद्र—यात्रा को पाप समझ कर विदेशों से सम्पर्क तोड़ लिया, तब से वह निरे कूपमण्डक बन गए। भले ही वह अपने आप को तीसमारखां समझते रहे, परन्तु ज्ञान—विज्ञान में पिछड़ गये। बाद में मुग़लों से और अंग्रेजों से पराजित होने का कारण भारतवासियों की यह कूपमण्डूकता ही थी। नहीं तो क्या कारण था कि हजार मील दूर ताशकन्द से आकर हिन्दुस्तान पर हमला करने वाले बाबर के पास तो तों पे थीं, और उससे लोहा लेने वाले राणा संग्राम सिंह, जो इतिहास में राणा सांगा के नाम से प्रसिद्ध हैं, केवल तीर और तलवार से ही लड़ रहे थे। जब संसार में बारूद और बन्दूक का आविष्कार हो चुका था, तब यदि भारतीय योद्धाओं के पास ऐसे अस्त्रों का अभाव था, तो उसका कारण सिवाय उनकी कूपमण्डूकता के और क्या हो सकता है? क्या आज भी हम नहीं देखते कि विज्ञान और तकनीक में जो देश पिछड़ गये हैं, वे महाशक्तियों के आगे गिऱगिराने और हाथ में भिक्षा—पात्र लिए उनसे दया की याचना करने को विवश हैं।

बात हम डी.ए.वी. की कर रहे थे। डी.ए.वी. के वर्तमान संचालक अपनी संस्थाओं का विस्तार विदेशों में भी करने को उत्सुक थे और इसके लिए उन्होंने पूर्वी एशिया, जापान, यूरोप और अमरीका तक की यात्रा की। इन विदेशों में अनेक स्थानों पर डी.ए.वी. के सहयोग से वहां भारतीय संस्कृति की प्रसारक शिक्षा—संस्थाएं खोलने की बातचीत अब भी चल रही है। गत वर्ष ही डी.ए.वी. के संचालकों ने न्यूयार्क में अमरीका—निवासी भारतीयों के अत्यन्त आग्रह से एक शिक्षा—संस्था खोलने का संकल्प किया था। प्रसन्नता की बात यह है कि न्यूयार्क के अधिकारियों ने इस योजना के प्रति अपना पूर्ण समर्थन प्रकट किया था और अपनी ओर से पूरे सहयोग का आश्वासन दिया था। उस संस्था के लिए प्रिन्सिपल की नियुक्ति हो चुकी थी और अन्य प्राध्यापकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में साक्षात्कारों का सिलसिला जारी था। इसलिए सबको आशा यह थी कि विदेश में सबसे पहले डी.ए.वी. संस्था न्यूयार्क में ही खुलेगी। अमरीका के भारतीयों को जहां यह श्रेय प्राप्त करने का विश्वास था, वहां डी.ए.वी. संचालकों के मन में भी यही बात थी।

परन्तु इसी बीच में मॉरिशस सरकार की ओर से डी.ए.वी. के शिष्ट—मण्डल को निमंत्रण मिला। यह शिष्ट—मण्डल वहां गया, उसने वहां देखा, परखा और आशातीत सफलता प्राप्त की। यह ठीक शेक्सपियर के सीज़र की उस उक्ति के समान बात हो गयी— “ही केम, ही सॉ एण्ड ही वन”।

डी.ए.वी. के शिष्ट—मण्डल को वहां जो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई, इससे जहां डी.ए.वी. के समस्त प्रेमियों को प्रसन्नता होगी, वहां उससे भी अधिक प्रसन्नता मॉरिशस—वासियों को हुई है। इससे यह भी पता लगता है कि विदेश—स्थित भारतीयों के मन में डी.ए.वी. की कितनी प्रतिष्ठा है। अब पता लगा कि मॉरिशस में लगभग ४०० ऐसे युवक और युवतियां हैं जो यहां भारतवर्ष में डी.ए.वी. संस्थाओं में पढ़कर गये हैं। मॉरिशस की सरकार ने और वहां की जनता ने इस शिष्ट—मण्डल में जहां अपने स्वज्ञों की पूर्ति के आसार देखे वहां भारत और भारतीय संस्कृति के साथ प्रबल एकात्मता का भी उन्होंने अनुभव किया। डी.ए.वी. शिष्ट—मण्डल की इस सफलता के पीछे कुछ ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक कारण भी हैं, जिनका विवेचन अगले अंक में पढ़िए।

१२ जुलाई १६८७



रख दे कोई ज़रा-सी खाके-वतन कफ़न में

महापंडित राहुल सांकृत्यायन जब रुस में प्राध्यापक थे, तब एक दिन शाम को बाग में घूमने गए। वे धीरे—धीरे चहलकदमी कर रहे थे और अपने विचारों में खोए हुए थे कि सामने से एक महिला दौड़ी—दौड़ी आई और “रोमा ! रोमा !” कहते हुए उनसे लिपट गई। महापंडित ठगे—से खड़े रह गए। एक—दो क्षण बाद जब स्थिति को समझ पाए तब कहा—“नहीं, मैं रोमा नहीं !” पर महिला कहां मानने वाली थी? बोली—“तुम्हारा रंग, चेहरे की बनावट, काली आंखें और काले बाल — ये सब कह रहे हैं कि तुम रोमा हो। तुम मैं और हम में क्या फर्क है?”

उसके बाद राहुल सांकृत्यायन ने जिप्सियों और उनकी भाषा — रोमनी के बारे में जो अध्ययन किया, उससे वे इस परिणाम पर पहुंचे कि ये लोग मूलतः भारतीय हैं, और इनकी भाषा भी भारोपीय परिवार की संस्कृत—मूल की भाषा है। तब उस महिला द्वारा रोमा समझे जाने पर उन्हें खेद नहीं हुआ।

— ‘फिर इस अन्दाज से बहार आई’, पृष्ठ ३६

शास्त्रार्थ-समर-विजेता महारथी

महात्मा अमर स्वामी जी के देहावसान होने के साथ ही जैसे आर्य समाज में शास्त्रार्थों के युग का अन्त हो गया। गत सौ वर्षों में आर्य समाज का जन-सामान्य में जितना अधिक विस्तार हुआ है, उसमें शास्त्रार्थों की परम्परा का बहुत बड़ा योगदान रहा है। शास्त्रार्थों की जैसी परम्परा भारत के इतिहास में रही है, वैसी संसार के किसी अन्य देश में नहीं रही। यह इस बात का प्रमाण है कि यहाँ के बुद्धिजीवियों ने ज्ञान के प्रसार को जितना महत्त्व दिया, इतना अन्य किसी बात को नहीं। मनुष्य के बुद्धिमान् प्राणी होने की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वह ईश्वर को और ईश्वर की बनाई सृष्टि को अपनी बुद्धि के अनुसार समझने का प्रयत्न करे और जो निष्कर्ष प्राप्त हो उनको तर्क और अनुभव की कसौटी पर कसकर अपने जीवन में व्यवहार करे। तर्क और अनुभव के सामंजस्य में कहीं न कहीं विचार भेद की गुंजाइश भी रहेगी ही, और जब तक विचार-भेद रहेगा तब तक मनुष्य मननशील प्राणी होने के कारण विचारों के परस्पर आदान-प्रदान की उपेक्षा नहीं कर सकता। भारत के बुद्धिजीवियों में इसी कारण शास्त्रार्थों के प्रति आग्रह रहा, और वे बिना दुराग्रह के इस प्रकार उहापोह, तर्क-वितर्क और विचार-मंथन के द्वारा निकले निष्कर्षों को स्वीकार करने को सदा तत्पर तैयार रहे। अन्य मतावलम्बियों ने जहाँ अपने मत से भिन्न मत रखने वालों के प्रति ज़ोर-जुल्म और अमानुषिक अत्याचारों का सहारा लिया, वहाँ भारतीय मनीषियों ने केवल शास्त्रार्थों के द्वारा ही अपने विचारों के प्रसार का प्रयत्न किया। यह भारत की सतत ज्ञानोपासना का अनुपम उदाहरण है।

आर्य समाज के प्रारम्भिक युग में किसी कारण शास्त्रार्थों पर काफ़ी जोर दिया जाता रहा। शास्त्रार्थ-परम्परा के कारण यहाँ आर्य जनता में अपने और पराये सिद्धांतों को बारीकी से समझने और समझाने का सिलसिला शुरू हुआ वहाँ स्वाध्याय की परम्परा भी निरन्तर चलती रही। स्वयं ऋषि दयानन्द ने भी अपने जीवन में कम शास्त्रार्थ नहीं किये। आर्य समाज के प्रारम्भिक युग में शास्त्रार्थ करने वाले उपदेशकों को तैयार करने का काफ़ी उत्साह रहा। आगरा का आर्य मुसाफिर विद्यालय इसी उत्साह का परिणाम था। इस विद्यालय ने आर्य-समाज को अनेक

शास्त्रार्थ—महारथी दिये। पं० भोजदत्त शर्मा, कुंवर सुखलाल आर्य मुसाफिर, पं० केदारनाथ शर्मा (जो बाद में राहुल सांकृत्यायन के नाम से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने वाले व्यक्ति बने) और मौलवी महेश प्रसाद आलीम फ़ाज़िल उसी विद्यालय की देन थे। यदि हम गलती नहीं कर रहे तो अमर स्वामी जी के दिवंगत होने के साथ उस विद्यालय रूपी वृक्ष का यह अन्तिम उत्कृष्ट फल भी समाप्त हो गया। अब जनता में न शास्त्रार्थों के प्रति वैसा उत्साह रहा और न शास्त्रार्थकर्ता शेष रहे। उसका दुष्परिणाम भी साफ दिखाई दे रहा है। आर्य जनता में शायद स्वाध्याय की परम्परा निरन्तर घटती जा रही है और वैदिक सिद्धान्तों के प्रति व्याख्यानों की परम्परा में भी कमी आती जा रही है। भविष्य में जब कभी विधर्मियों की ओर से शास्त्रार्थों की चुनौती आयेगी, तो आर्य जनता को महात्मा अमर स्वामी जैसे शास्त्रार्थ—समर के विजेता, उर्दू अरबी, फारसी और संस्कृत के पंडित, अद्भुत श्रवण—शक्ति के धनी, वैदिक सिद्धान्तों के पक्षपोषक और अवैदिक सिद्धान्तों का मान—मर्दन करने वाले प्रमाणों के पारावार अमर स्वामी जी जैसे महारथी का अभाव तीव्रता से अखरेगा।

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के साथ अपने यौवन के प्रारम्भ में ही उपदेशक के रूप में जुड़ जाने वाले, आर्य—समाज के गत सौ वर्ष के इतिहास के जीवन्त स्मृति—कोष और 'आर्य—जगत्' के माननीय परामर्शदाता महात्मा अमर स्वामी जी महाराज के अभाव को आर्य जनता जितना अनुभव करेगी, 'आर्य—जगत्' उससे भी अधिक अनुभव करेगा। महात्मा अमर स्वामी जी का पांच—भौतिक शरीर ५ सितम्बर १६८७ को अन्त्येष्टि संस्कार के समय भले ही पंचभूतों में विलीन हो गया हो, परन्तु उनकी मनुष्यता, ओजस्विता, वैदिक धर्म के प्रति निष्ठा, आर्य—समाज के प्रचार की अहर्निश धून, जब तक आर्य—समाज रहेगा तब तक उनके नाम को सार्थक करती हुई अमर बनी रहेगी। दिवंगत विद्वत्—वरेण्य महात्मा अमर स्वामी जी के चरणों में आर्य—जगत् की विनम्र श्रद्धांजलि!

१३ सितम्बर १६८७



"न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्म त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥"

— महाभारत, उद्योग पर्व ४०/२३

शिवरात्रि का सन्देश

शिवरात्रि का पर्व ऋषि—बोधोत्सव का रूप लेकर इस वर्ष किर आया है। भारतीय वाड्मय में ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन त्रिदेवों में सबसे अधिक उपेक्षा केवल ब्रह्मा की हुई। विष्णु और शिव के भक्तों ने अपने अपने आराध्य देवों के नाम पर मन्दिरों की भरमार कर दी, जबकि ब्रह्मा जी के नाम पर भारत भर में केवल दो ही मन्दिर हैं। एक अजमेर के निकट पुष्कर में, और दूसरा गुवाहाटी के पास 'पाण्डु' में। ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ज्ञान के प्रतीक हैं, विष्णु कर्म के और शिव भक्ति के। ज्ञान के आग्रही संसार में सदा अल्पमत में होते हैं, जबकि भक्ति और कर्म के माध्यम से जीवन में सफलता प्राप्त करने वाले बहुमत में होते हैं। विष्णु प्रेय मार्ग के प्रतिनिधि हैं और शिव श्रेय मार्ग के। एक के भक्त प्रवृत्ति—मार्ग के उपासक हैं और दूसरे के भक्त निवृत्ति—मार्ग के। वैष्णवों के राम, कृष्ण और राधा आदि के नाम से अनेक सम्प्रदाय बने, तो शैवों के शाक्त और भैरव आदि मत बने। वज्रयान, तंत्रयान, सहजयान और नाथ—सम्प्रदाय आदि में अक्खड़पन की परम्परा के साथ—साथ वाममार्गी विचारधारा ने भी बहुत गहरा प्रभाव छोड़ा। भारतीय इतिहास के कौन से काल—खण्ड में वैष्णवों के किस सम्प्रदाय विशेष का और शैवों के किस सम्प्रदाय विशेष का प्राबल्य रहा? इसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। हम तो इतिहास की रूपरेखा—मात्र प्रस्तुत कर रहे हैं। वर्तमान हिन्दू समाज वैष्णव विचारधारा से अधिक प्रभावित है। परन्तु मन्दिरों का जहां तक सम्बंध है, वे शायद शिवजी के ही अधिक होंगे। गणेश और कार्तिकेय भी शिव से सम्बन्धित हैं और पार्वती, दुर्गा, काली, चण्डी, आदि के मन्दिर भी उसी परम्परा के प्रतीक हैं। हरियाणा का नाम 'हरियाणा' इसीलिये पड़ा कि वहां के गांव—गांव में शिव के मन्दिर हैं।

इन देवी—देवताओं को कितना ही आलंकारिक और प्रतीकात्मक रूप क्यों न दिया जाये, परन्तु ये सब के सब उन देवों के व्यक्तिकरण (personification) के ही रूप हैं। वे विष्णु या शिव को ही व्यक्ति—विशेष अर्थात् संज्ञा—रूप को मानकर चलते हैं। परन्तु वेद में केवल शिव नहीं, प्रत्युत शिवतर और शिवतम रूप भी मिलते हैं। जैसे संध्या के अन्तिम मन्त्र में 'शिवाय, शिवतराय और शिवतमाय' इन तीनों

शब्दों का प्रयोग हुआ है। वह इस बात का प्रमाण है कि वेद को यह शब्द विशेषण के रूप में भी प्रिय है। तब वह व्यक्ति—विशेष न रहकर केवल कल्याण—वाचक अर्थ का ही प्रतिनिधि बन जाता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि शिव का अर्थ है कल्याण और व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिये जो कुछ भी हितकारी है, वह सब शिव की पूजा का अंग है।

महाभारतकार ने कहा है—

नहि मानुषात् श्रेष्ठतरम् हि किंचित्।

और यह भी शास्त्रीय वचन है—

ये पुरुषे ब्रह्मविदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्।

अर्थात् संसार में मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। जिसने मानव में परमात्मा के दर्शन कर लिये उसने परमेष्ठी को पहचान लिया। इस प्रकार मानव—मात्र की सेवा में और उसके कल्याण में अपने जीवन को लगा देना ही शिव की असली पूजा है। यही शिवरात्रि का संदेश है। चतुर्दशी की अमा—यामिनी में बालक मूलशंकर के मन में जिस सच्चे शिव को जानने की इच्छा पैदा हुई थी, उसका समाधान ऋषि दयानन्द ने इसी रूप में पाया था और अपना सारा जीवन जाति के कल्याण में लगाकर अपने बोध को सार्थक किया था।

१४ फरवरी १९८८



कैलाश और कन्याकुमारी (शिव का रूपक)

“भारत ही वह शिव है, जिसके हिमालय रूपी सिर से गंगा निकलती है। जब आप असली शिव की खोज पर निकलेंगे (जैसे मूलशंकर निकला था), तब क्या (पौराणिक) रूपकों के फलितार्थों को हृदयंगम किये बिना किसी निष्कर्ष पर पहुंच सकेंगे? इसलिए शिवरात्रि के दिन ‘क्या यही सच्चा शिव है?’ इस प्रश्न के उदय को जिस प्रकार आप ‘आत्मचेतना’ का विस्फोट कहते हैं, मुझे उसमें राष्ट्र—चेतना भी छिपी हुई दिखाई देती है।

शिव के रूपक का एक और चमत्कार! शिव कैलाश पर निवास करते हैं, और पार्वती कन्याकुमारी में तपस्या कर रही हैं। दोनों की दूरी में दो हजार मील का अन्तर! इस दूरी को पाटे बिना शिव और पार्वती का विवाह कैसे हो? क्या यह रूपक भी राष्ट्रीय भावात्मक एकता (नेशनल इनोशनल इन्टिग्रेशन) का द्योतक नहीं है?”

—‘आप राष्ट्रपुरुष ऋषि दयानन्द’, पृष्ठ ३ से ६

आर्य-समाज का स्थापना-दिवस

आर्य-समाज की स्थापना हुये १९३ वर्ष पूरे हो रहे हैं। चैत्र शुक्ला प्रतिपदा संवत् १६३१ (सन् १८७५) को बम्बई में आर्य-समाज की स्थापना हुई। हर वर्ष आर्य-समाज बम्बई (काकड़वाड़ी, गिडगांव) इसी अवसर पर अपना वार्षिकोत्सव भी मनाता है। इस वर्ष वह तारीख १७ मार्च को पड़ रही है और दक्षिण भारत में प्रायः चन्द्रगणना के हिसाब से इस दृष्टि से चैत्र प्रतिपदा की स्थिति में भी १५ दिन का अन्तर पड़ने की संभावना रहती है। महान् ज्योतिर्विद् भास्कराचार्य ने यह भी उल्लेख किया है :

चैत्र मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि।

शुक्ल-पक्षे समायाते तथा सूर्योदये सति॥

अर्थात् चैत्र शुक्ल-पक्ष के प्रथम दिन सूर्योदय के समय ब्रह्म-जगदीश्वर ने जगत् की रचना की।

कभी—कभी इस बात को लेकर आर्य—बन्धु अपने मन में बड़ा गर्व भी अनुभव करते हैं कि ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना उसी दिन की जिस दिन ब्रह्मा ने सृष्टि—रचना प्रारम्भ की थी। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। क्योंकि किसी भी दिन के शुभ या अशुभ होने की कल्पना केवल मनुष्यकृत है, देवकृत नहीं।

एक शताब्दी से अधिक वर्ष बीत जाने के पश्चात् इस अवसर पर जब हम विगत अवधि के आर्य-समाज के कार्यकलाप पर विचार करते हैं तो मन में अनायास गर्व और उत्साह की तरंग उठती है। क्योंकि इतने कम समय में जितना विस्तार इस आन्दोलन का हुआ है, सम्भवतया आज तक संसार के किसी अन्य आन्दोलन का नहीं हुआ है। यह केवल अपने मुंह—मिट्ठू बनने वाली बात नहीं है, इतिहास और तथ्यों पर सत्य है। आर्य-समाज के सिद्धांतों को भी इतने वर्षों में जितनी व्यापक मान्यता मिली है, उतनी अन्य किसी तथाकथित मतमतान्तर को नहीं भिली है। सारे संसार के बुद्धिजीवियों पर आर्य-समाज की विचारधारा की छाप है। आर्य समाज के शतक—विरोधियों की भी अब अगर कोई शिकायत होती है तो आर्य समाज द्वारा प्रसारित वेद पर आधारित सिद्धांतों पर नहीं, बल्कि स्वयं आर्य जनता

के व्यवहार पर होती है। अब विरोधी लोग प्रायः अपनी असमर्थता को इन शब्दों में छिपाते हैं—

“बातें तो आपकी सब ठीक हैं, परन्तु जहां तक आचरण का सम्बंध है वहां तक यह कहा जा सकता है कि जब आर्य—समाजी खुद अपने सिद्धांतों पर पूरी तरह आचरण नहीं करते, तो वे अन्य मतावलम्बियों से कैसे आशा कर सकते हैं?”

किसी हद तक यह शिकायत सही भी है। इसका समाधान हम केवल यह कहकर कर सकते हैं कि किसी चीज की संख्या (क्वांटिटी) ज्यों—ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों—त्यों उसकी गुणवत्ता (क्वालिटी) कम होती जाती है। पर यह समाधान केवल आत्मसन्तोष के लिये है। इसके कारण आर्य जनता में छाये हुए गुणवत्ता के प्रति प्रमाद की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

परन्तु एक शिकायत हम स्वयं खुले—आम करना चाहते हैं। वह शिकायत यह है कि ज्यों—ज्यों आर्य—समाज के आन्दोलन का और इस आन्दोलन से सम्बद्ध संस्थाओं का विकास और विस्तार होता चला गया, त्यों—त्यों उसका संगठन स्वयं अपने बोझ के नीचे चरमराने लगा। यह सही है कि आज भी आर्य—समाज जैसा सुव्यवस्थित और सुसंगठित आन्दोलन और कोई नहीं है, परन्तु आर्य—समाज के संगठन में अब वह सौमनस्य दिखाई नहीं देता, जिस सौमनस्य पर गैर—आर्य—समाजी भी ईर्ष्या किया करते थे। कभी ऐसा भी समय था कि जब ‘कांग्रेस का कोषाध्यक्ष किसे बनाया जाये’, यह पूछने पर सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपनी यह स्पष्ट राय दी थी कि इस काम के लिये कोई आर्यसमाजी व्यक्ति ही उपयुक्त हो सकता है। परन्तु आर्य—जनता से हम यह प्रश्न करते हैं कि क्या आज भी हम अर्थ—शुचिता के विषय में आर्य—समाजियों के सम्बंध में उसी प्रकार की बात कहने की हिम्मत कर सकते हैं? आज विभिन्न सभाओं के चुनावों को लेकर न्यायालयों में कितने आपसी अभियोग चल रहे हैं, या पुलिस के संरक्षण में, तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के आदेशों के आधीन हैं। चुनाव हो रहे हैं। चुनावों के समय ऐसी अखाड़ेबाजी दिखाई देती है और जितना कोलाहल और तू—तू मैं—मैं होती है, वह किसी भी आर्य—बन्धु के लिये लज्जाजनक है। राजनीतिक पार्टियों में जिस प्रकार दलबन्दी और सत्ता—लोलुपता के कारण मानवता के नाम पर पशुता के दर्शन होते हैं, वैसी स्थिति आर्य—समाज के संगठन पर भी हावी होती जा रही है। राजनीति के सारे विकार धीरे—धीरे आर्य—समाज के संगठन में घुसते चले जा रहे हैं। ऐसा कौन सा प्रान्त है जहां दो—दो प्रतिनिधि सभाएं न हों, और एक ओर सत्तारूढ़ गुट और दूसरी ओर उनकी टांग खींचने वाला उतना ही प्रबल गुट न हो? जिन पदों पर पहले निस्वार्थ, सेवाभावी और समाज के लिये अपना तन—मन—धन न्यौछावर करने वाले लोगों को आसीन किया जाता था, आज वहां स्वयं अपने आपको आसीन

करने के लिये सारे संगठन का शोषण करने वाले लोग भी पैदा हो गये हैं। हमारा संकेत किसी व्यक्ति—विशेष की ओर नहीं, केवल आर्य समाज के संगठन में घुसती चली आ रही इस नई प्रवृत्ति की ओर है।

आर्य समाज में अब भी भले लोगों की कमी नहीं है। विद्वानों की भी कमी नहीं है, परन्तु राजनीति की तरह वह स्थिति पैदा हो गई है, 'एकोऽपि बलवत्तरः शतम् विज्ञानवत्ताम् कम्पयते'। एक भी चतुर बलवान् आदमी सौ ज्ञानियों को कम्पायमान् करने में समर्थ है। चुनाव—प्रधान राजनीति के खिलाड़ी ऐसे ही अवसरों के लिये कुछ असामाजिक तत्त्वों को संरक्षण देते रहते हैं। क्या आर्य समाज को भी ऐसा होना चाहिये? जिस तरह भगवती भागीरथी के प्रदूषण को निरस्त करने के लिये तीव्र अभियान चल रहा है, उसी तरह हमें भी अपने संगठनों में घुस आये प्रदूषणों को निरस्त करने के लिये तीव्र प्रयत्न करना पड़ेगा। पर यह आपसी प्रतिद्वंदिता या निहित स्वार्थों की आपाधापी से नहीं होगा। जनता—जनार्दन के अन्तःकरण में छिपी नैतिकता की अन्तःसलिला के माध्यम से ही सम्भव हो सकेगा। आर्य समाज स्थापना दिवस के अवसर पर पूर्ण आशा भरे मन से हम उसी अन्तःसलिला का आह्वान कर रहे हैं।

१३ मार्च १९८८



केवल वेद नहीं

ऋषि को 'वेदों वाले सन्त' कहने में वही एकांगिता है, जो श्रीकृष्ण को केवल 'बंसीवाला' कहने में। क्या श्रीकृष्ण के सुदर्शन—चक्रधारी रूप की किसी भी रूप में अवहेलना की जा सकती है? पर भक्ति—सम्प्रदाय ने कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र को भुला कर, वृन्दावन को रस और रास की लीलास्थली बना दिया और श्रीकृष्ण को वहीं तक सीमित कर दिया। इसी तरह केवल वेद—वेद का नारा लगाने वालों ने भी ऋषि दयानन्द के राष्ट्रीय—चेतना वाले रूप को ओङ्काल कर दिया।

आर्यसमाज की दो भुजाएँ हैं—एक वेद और दूसरी राष्ट्र। जो केवल एक भुजा की बात करता है, वह आर्यसमाज को विकलांग बना देना चाहता है। अंग्रेज़ों के पिट्ठुओं ने और ब्रिटिश सेवा से ऐश्वर्य—सम्पन्न बने लोगों ने ही इस बात पर सब से अधिक ज़ोर दिया है कि आर्यसमाज केवल वेद को मानने वाली एक धार्मिक संस्था है, उसका राष्ट्र या राजनीति से कोई वास्ता नहीं।

—‘आन्त राष्ट्रपुरुष ऋषि दयानन्द मेरी दृष्टि में,’ पृष्ठ २३

आचार्य वैद्यनाथ जी भी नहीं रहे

आर्य समाज की पुरानी पीढ़ी के एक से एक बढ़कर विद्वान् अब धीरे-धीरे इस धराधाम को छोड़ते जा रहे हैं। पं० बिहारी लाल जी शास्त्री, श्री अमर स्वामी जी महाराज, और श्री वीर सैन जी 'वेदश्रमी' के परलोक प्रयाण को अभी हम स्मृति के गर्भ से निकाल भी नहीं पाये थे कि आर्य समाज की एक और विभूति हमसे छिन गई। वैदिक वाड्मय के प्रकाण्ड विद्वान् श्री आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री उसी रत्नमाला की देदीप्यमान उज्ज्वल मणि थे।

आचार्य जी ने जीवन भर जिस प्रकार सरस्वती की उपासना की, और आर्य समाज के द्वारा संचालित सारस्वत यज्ञ के वर्षों तक प्रमुख होता बने रहे, वैसा सौभाग्यशाली कोई अन्य विद्वान् कदाचित् ही रहा हो। वे गत २५ वर्षों से आर्यों की शिरोमणि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा से जुड़े हुए थे। कभी वे वेद-भाष्य अभियान के अधिष्ठाता रहे, कभी शोध विभाग के अध्यक्ष रहे। कभी धार्मिक समस्याओं के सुझाने वाले व्यवस्थापक और परामर्शदाता रहे, और गत कई वर्षों से वे धर्मार्थ सभा के अध्यक्ष के रूप में कार्य कर रहे थे। इस प्रकार सार्वदेशिक सभा की नाना गतिविधियों के साथ वे जुड़े हुए थे। इन दिनों वे यजुर्वेद का अंग्रेज़ी में भाष्य कर रहे थे। एक बार वार्तालाप में आत्माभिव्यक्ति करते हुए उन्होंने लेखक से कहा था कि यजुर्वेद के इस भाष्य से मुझे यथार्थ में आत्म-सन्तोष हुआ है। और यदि परमात्मा की दया से मैं इसे पूरा कर सका तो मेरी ओर से यह न केवल आर्य समाज को अनुपम भेट होगी, प्रत्युत ऋषि दयानन्द तथा अन्य वैदिक ऋषियों के चरणों में मेरी विनप्रतम श्रद्धांजलि भी होगी। परन्तु वे यह भाष्य पूरा नहीं कर पाये। अब से लगभग ३ मास पहले अकस्मात् वे कार्य करते-करते पक्षाधात के शिकार हो गये, और उनके शरीर का आधा हिस्सा गति शून्य हो गया। परन्तु तुरन्त अस्पताल में भर्ती होकर कुशल चिकित्सकों की देख-रेख में धीरे-धीरे उनके अंगों में गतिशीलता आने लगी और वाणी भी लौट आई। अभी उपचार चल रहा था। वे शनैःशनैः स्वास्थ्य लाभ भी कर रहे थे और कुछ-कुछ चलना फिरना भी शुरू किया था कि दस मार्च को फिर अचानक एक तीव्र झटका लगा, और बेहोशी की हालत में उन्हें फिर अस्पताल में

भेजकर डाक्टरों की स्पेशल केयर यूनिट में रखा। किन्तु इस बेहोशी से वे नहीं उभर पाये और ११ मार्च की आधी रात को अस्पताल में ही वे इस लोक से विदा हो गये। अगले दिन निगमबोध घाट पर आर्य विद्वानों, गुरुकुल गौतम नगर के ब्रह्मचारियों और आर्य जनता की भारी भीड़ की उपस्थिति में उनकी वैदिक विधि से अन्त्येष्टि हुई। उनके किसी पुत्र के अभाव में उनके दौहित्र ने चिता में अग्नि दी। और उसके पश्चात् सबने मिलकर परमात्मा से उनकी आत्मा की सद्गति के लिये प्रार्थना की।

परन्तु यह कैसे मान लें कि वे सदा के लिये चले गये। जिस वक्ति ने अपने जीवन में हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी में एक से एक बढ़कर वैदिक सिद्धान्तों की पोषक लगभग ६० पुस्तकों लिखी हों, भले ही उसका भौतिक शरीर अग्नि की भेंट हो गया हो, परन्तु यशः—शरीर तो और उज्ज्वल हो उठा—ठीक वैसे ही जैसे सोना अग्नि में पड़कर कुन्दन बनकर निकलता है। कभी लाहौर में ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य—पद को सुशोभित करते हुए, और बाद में डी.ए.वी. कालेज प्रबन्धकर्त्री समिति द्वारा संस्थापित अनुसंधान विभाग में कार्य करते हुए वे आर्य समाज से जुड़े थे। उसके बाद गुरुकुल एटा के कुलाधिपति रहे, कन्या गुरुकुल पोरबन्दर के आचार्य रहे, और जब पं० मदन मोहन मालवीय की इस नवरत्न पर दृष्टि पड़ी, तो उन्होंने काशी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय पद पर नियुक्त करके बड़ा सन्तोष अनुभव किया। अलवर के आर्य महासम्मेलन और मारिशस में हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के वे प्रमुख योजनाकारों में थे। पूर्वी तथा दक्षिणी अफ्रीका के अनेक देशों में भी उन्होंने वैदिक धर्म की दुरुभि बजाई थी। आर्य समाज द्वारा चलाये गये हैदराबाद सत्याग्रह आन्दोलन, हिन्दी रक्षा आन्दोलन और गौरक्षा आन्दोलन में भी उनकी बड़ी सक्रिय भूमिका रही। आर्य समाज के सम्बुद्धि जब भी कोई किसी तरह का संकट आता, चाहे वह संकट वैधानिक हो, सामाजिक हो, या राजनीतिक हो, या धर्मशास्त्र अथवा विद्या—सम्बन्धी हो— उन सभी अवसरों पर आर्य—जनता का ध्यान उनकी तरफ जाता था, और सब आर्य नेता उनके परामर्श को उपयोगी मानते थे। वे शास्त्रीय पांडित्य के अलावा कानून और विधि—विधान सम्बन्धी बातों के बहुत अच्छे जानकार थे। इसलिये उनके परामर्श को प्रामाणिकता का दर्जा दिया जाता था।

सन् १९१२ में उत्तर प्रदेश के जौनपुर नामक स्थान में जन्म लेकर आचार्य वैद्यनाथ जी ७६ वर्ष की आयु तक हमारे बीच रहे, और इस मध्य उन्होंने विभिन्न रूपों में आर्य समाज की सेवा करते हुए दिग्दिगंत में अपने यश का विस्तार किया।

अन्त में यही कहने को जी चाहता है—

अम्भोजिनी-वन-निवास-विलासमेव
हंसस्य हन्ति नितराम् कुपितो विधाता ।
किंत्वस्य दुध्ध-जल-भेद-विधौ प्रसिद्धाम्
वैदग्ध्य-कीर्तिमपहर्तुमलं समर्थः ॥

यदि विधाता कुपित हो जाये तो वह इतना ही कर सकता है कि हंस के कमलनियों से आच्छादित सरोवर में विहार को समाप्त कर दे। किन्तु दूध और पानी को अलग—अलग करने की जो हंस की विशेषता है, उसकी तत्सम्बन्धी कीर्ति को तो विधाता भी नहीं छीन सकते।

इसलिये हमने कहा निगम बोध घाट में

वायुरनिलममृतमथेदम् भस्मान्तम् शरीरम् ।

इस मन्त्र के साथ अग्नि ने उनके शरीर को भस्म बेशक कर दिया, क्योंकि शरीर तो पार्थिव अंश—मात्र था। पांच—भौतिक शरीर के शेष चारों भूतों को अग्नि देव ने उनका सूक्ष्म अंश उन तक पहुंचा दिया। शरीर का जलीय अंश जल को, और प्राण—वायु विश्व में स्थित महान् वायुदेव को, और अवशिष्ट अंश आकाश को सौंप दिया। परन्तु उसमें जो अमृत—तत्व था वह थी आत्मा; और जब तक उनका यशः—शरीर जीवित रहेगा, तब तक उनकी यह अन्तरात्मा हमको सदा प्रेरणा देती रहेगी।

२० मार्च १९८८



‘जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते’

— प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है, उसके पश्चात् संस्कारों के आधान से प्राप्त गुण—कर्म के द्वारा वह द्विजत्व को प्राप्त होता है। जिस तरह वकील का बेटा जन्म से वकील नहीं होता, और डॉक्टर का बेटा जन्म से डॉक्टर नहीं होता उन्हें क्रमशः वकालत और डॉक्टरी पास करने पर ही वकील और डॉक्टर कहा जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मणत्व के गुण—कर्म से हीन ब्राह्मण का बेटा भी ब्राह्मण नहीं हो सकता। उसे विद्याध्ययन, तपस्या और सदाचार के द्वारा ब्राह्मणत्व अर्जित करना होगा। जन्म—परक जाति की मान्यता ही देश का सबसे बड़ा अभिशाप है। गुण और कर्म के द्वारा जाति की मान्यता सामाजिक विकास का जितना उत्तम उपाय है, उतना उत्तम और कोई उपाय नहीं हो सकता।

— ‘चयनिका’, पृष्ठ ६४—६५

अनुकरणीय कदम

वैज्ञानिकों ने पशुओं, पक्षियों, नाना पेड़—पौधों और फल—फूलों की अच्छी किस्में तैयार करने के लिये बड़ा भारी परिश्रम किया है। गेहूं और चावल जैसे अनाजों और दलहनों की भी अधिक से अधिक उपज देने वाली किस्में तैयार करने के लिये होड़ लगी हुई है। परन्तु आज तक मनुष्य—निर्माण की विद्या का किसी वैज्ञानिक ने आविष्कार नहीं किया। यह काम भारत के प्राचीन ऋषियों ने किया। वैदिक धर्म का सारतत्त्व केवल इसी एक बात में निहित है कि वह सामान्य मनुष्य को उत्तम मनुष्य (आर्य) बनाने की विधि सिखाता है। स्वयं वेद ने “जनया दैव्यं जनम्” कहकर सामान्य मनुष्य को दिव्यगुणों से सम्पन्न मनुष्य बनाने की ओर संकेत किया है। इसी में मानव—जीवन की सार्थकता है।

मनुष्य—निर्माण की इस विद्या की प्रक्रिया के रूप में ही मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त १६ संस्कारों का विधान है। ये संस्कार कर्मकाण्ड का अंग मात्र नहीं हैं, परन्तु उत्तरोत्तर मनुष्य को श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनने की ओर अग्रसर करने की विधि हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी मनुष्य का निर्माण दो ही बातों पर निर्भर है — आनुवांशिकता और पर्यावरण (हेरेडिटी एण्ड ऐनवार्यन्मेंट)। आनुवांशिकता को नियंत्रित करना हमारे हाथ में नहीं है। हालांकि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाये तो पूर्ण—ब्रह्मचर्य धारण करने के पश्चात् युवक और युवतियों के विवाह के माध्यम से उस आनुवांशिकता को भी प्रभावित किया जा सकता है। परन्तु पर्यावरण तो पूरी तरह से हमारे हाथ की बात है। अध्यात्मवादी लोग जहां आनुवांशिकता पर अधिक जोर देते हैं, वहां भौतिकवादी लोग पर्यावरण पर अधिक जोर देते हैं। वस्तुतः अभीष्ट जीवन के निर्माण में इन दोनों का ही महत्वपूर्ण स्थान मानना चाहिये। जबसे मानव—जीवन में जीन्स के प्रभाव की खोज हुई है, तब से आनुवांशिकता का भी महत्व बढ़ गया है। परन्तु फिर भी वैज्ञानिकों का सारा जोर अभी तक पर्यावरण को ही अपने अनुकूल बनाने पर है।

पर्यावरण पर जितना ज़ोर हम भौतिक पदार्थों के बारे में देते हैं, उतना ही मानव—निर्माण के लिये उसकी उपयोगिता पर क्यों नहीं देते? औद्योगिक सभ्यता के कारण प्रकृति में दिन—प्रतिदिन होते जाने वाले विपर्ययों की ओर संसार के

बुद्धिजीवियों में नई चेतना जागी है, और पर्यावरण के प्रदूषण को रोकने के लिये बुद्धिजीवियों का आन्दोलन भी चल रहा है। परन्तु मानव-निर्माण की दिशा में अनुकूल पर्यावरण के प्रति चेतना का वहाँ भी अभाव है।

संस्कार क्या है? मनुष्य का शारीरिक और मानसिक तथा सामाजिक वातावरण तैयार करने की विधा ही तो है। इसीलिये वैदिक धर्म में संस्कार को इतना महत्व दिया है। यह भी ऋषि दयानन्द का महान् उपकार है, कि संस्कारों के सम्बन्ध में समस्त हिन्दू समाज में जो अराजकता और उच्छृंखलता फैली हुई थी उसका निराकरण करने के लिये उन्होंने समस्त संस्कारों की एक संहिता—बद्ध प्रक्रिया तैयार कर दी। अब उसमें कहीं वाद—विवाद की गुजाइश नहीं रही। सारा हिन्दू—समाज उस विधि—विधान को अपना कर मनुष्य—निर्माण की इस विद्या से लाभ उठा सकता है। हिन्दू समाज ही क्यों? हम तो कहेंगे समस्त मानव—समाज। क्या चिकित्सा की कोई पद्धति किसी देश—विशेष या वर्ग—विशेष के लिये होती है? चाहे ऐलोपैथिक पद्धति हो, चाहे होम्योपैथिक, चाहे आयुर्वेदिक, और चाहे हिकमत—क्या इनमें से कोई पद्धति केवल भारतीयों, यूरोपियों या किसी देश विदेश के लोगों के लिये लाभदायक है? ये समस्त चिकित्सा पद्धतियां मानव—मात्र के लिये हैं। उसी प्रकार संस्कारों के माध्यम से मनुष्य—निर्माण की यह पद्धति भी समस्त संसार के मानव समाज के लिये है।

विद्या—ग्रहण करने को मनुष्य का दूसरा जन्म कहा जाता है। जब तक गुरु के चरणों में बैठकर मानव ज्ञान प्राप्त नहीं करता, तब तक वह द्विजन्मा (अर्थात् द्विज) नहीं बनता, संस्कार—शून्य (शूद्र) ही बना रहता है। इसीलिये वेदारम्भ संस्कार और उपनयन संस्कार को दूसरे जन्म की दीक्षा का अवसर माना जाता है। उपनयन का अर्थ है— विद्यार्थी का गुरु के समीप जाना, और वेदारम्भ का अर्थ है— वेद अथवा ज्ञान को ग्रहण करने की दीक्षा लेना। प्राचीन गुरुकुलों में ब्रह्मचारी जब गुरुकुल में जाता, तो इन दोनों संस्कारों को करने के पश्चात ही गुरु के सानिध्य में उसकी पढ़ाई प्रारम्भ होती। यह पढ़ाई केवल पुस्तक—सम्बन्धी या शास्त्रीय ज्ञान तक ही सीमित नहीं रहती। परन्तु समस्त दिनचर्या और जीवन—व्यापी आचार—विचार को परिष्कृत करने से भी जुड़ी होती थी। आचार्य को आचार्य इसीलिये कहा जाता था क्योंकि वह अपने शिष्यों को आचारवान् बनाने की जिम्मेवारी मुख्य रूप से ग्रहण करता था। ऋषि दयानन्द ने गुरुकुल शिक्षा—प्रणाली की ओर संकेत करके और स्वामी श्रद्धानन्द ने उसे क्रियात्मक रूप देकर इस युग में पुनः प्रचलित किया। गुरुकुलों में अब भी सर्वत्र वेदारम्भ और उपनयन संस्कार की प्रथा प्रचलित है। गुरुकुल से भिन्न अन्य संस्थाओं में इन संस्कारों का कोई स्थान नहीं है।

कान्चेंट स्कूलों के मुकाबले में आर्य समाज ने डी.ए.वी. के मॉडल स्कूलों और पब्लिक स्कूलों का सिलसिला शुरू किया। वे खूब लोकप्रिय भी हुए, पर अब तो जैसे सारे देश में इस प्रकार के डी.ए.वी. पब्लिक स्कूलों को खोलने की मांग दिन—प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। यह एक शुभ—लक्षण है। भारत के बच्चों को विदेशी और विधर्मी संस्कृति से बचाकर अपनी संस्कृति के अनुरूप वातावरण में शिक्षा देना, बच्चों में नैतिकता और राष्ट्रीय भावना भरना, और उनको वैदिक धर्म के प्रति आस्थावान बनाना बहुत आवश्यक है। आज की नई पीढ़ी जिस प्रकार दिशाहीन हो रही है, उसको दिशा देने के लिये स्कूलों की यह नई परम्परा बहुत आवश्यक है। क्या यह हमारे लिये लज्जा की बात नहीं है कि विदेशी और विधर्मी मैकाले के बताये रास्ते पर चल कर हमारे बच्चों को हमारे लिये ही अजनबी बनाते रहें, और हम लाचार होकर इस विडम्बना को चुपचाप देखते रहें? सरकार के भरोसे बैठे रहने से बात नहीं बनेगी। सरकार में जितने लोग बैठे हैं उनके पास वह दृष्टि ही नहीं है। वे तो भारत को “झिण्डया” बनाने पर तुले हुए हैं। भारत को “भारत ही” बनाये रखने के लिये हमको स्वयं ही प्रयत्न करना होगा। आर्य समाज और डी.ए.वी. आन्दोलन ने इस दृष्टि से देश का बहुत उपकार किया है।

इन पब्लिक स्कूलों की भीड़ में बच्चों की झेस पर, उनके टिप-टॉप रहने पर और इमारतों आदि के बाह्य आडम्बर पर खर्च भी कम नहीं होता। आज के युग में वह भी सब आवश्यक है। परन्तु हमारी इन सब संस्थाओं की मूल आत्मा तो यह बाहरी परिवेश नहीं, बल्कि भारतीय और वैदिक संस्कृति के प्रति निष्ठा ही है। उसकी ओर हमें न केवल विशेष ध्यान देना होगा, बल्कि इसके लिये निरन्तर जागरूक भी रहना होगा।

हाल में ही यूसुफ सराय के डी.ए.वी. पब्लिक स्कूल में नर्सरी में दाखिल हुए बच्चों के विद्यारम्भ (पब्लिक स्कूलों के सन्दर्भ में हमें वेदारम्भ को विद्यारम्भ संस्कार का रूप देना ही अधिक उचित होगा) संस्कार को देखने का अवसर मिला। किसी भी पब्लिक स्कूल के लिये इस प्रकार के संस्कार की कल्पना करना एक नई बात थी। गुरुकुलों में तो यह परम्परा सर्वत्र जारी है, किन्तु किसी पब्लिक स्कूल के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं सुनी गई थी। छोटे-छोटे बच्चे जब पीले रुमाल गले में बांधे अपने गुरुओं और अभिभावकों के साथ इस प्रक्रिया से गुजरे, तो उस दृश्य को देखकर गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की सी भावना सहज ही उदित होती थी। यद्यपि संस्कार की प्रक्रिया में आधुनिक सन्दर्भ के अनुसार काफी कुछ संशोधन भी कर दिया था, परन्तु कुल मिलाकर दृश्य बड़ा मनोहर और प्रेरणादायक था। सब बच्चे जब एक साथ मिलकर प्रार्थना—मंत्रों का उच्चारण करते थे तो नये प्रविष्ट होने वाले बच्चे और उनके अभिभावक भी उस वातावरण से प्रभावित हुये बिना

कैसे रहते? वहां की आचार्या ने बच्चों को गायत्री मंत्र का उपदेश दिया, नये बच्चों से उसका उच्चारण करवाया। इस सारी प्रक्रिया में बच्चों के अभिभावक भी किसी न किसी रूप में संस्कार से जुड़े रहे। अब इसी प्रकार का संस्कार हर वर्ष नये प्रविष्ट होने वाले बच्चों के लिये किया जाने का निश्चय हुआ। वहां के आचार्य महोदय ने पंडित विद्यारत्न जी के सहयोग से समस्त कार्यक्रम में पूरी निष्ठा के साथ सहयोग दिया, और भविष्य में भी इस परम्परा को जारी रखने का वचन दिया।

इन्हीं प्राचार्य महोदय ने एक वर्ष पहले २६ जनवरी के अवसर पर जो गणराज्य दिवस की परेड निकलती है, उसमें जहां विभिन्न स्कूलों के बच्चे तरह—तरह के सांस्कृतिक कार्यक्रम पेश करते हैं, वहां अपने स्कूल के बच्चों की ओर से योगासनों को प्रदर्शित किया था। उस समय जहां सभी दर्शकों ने उसे सराहा था, वहां समाचार—पत्रों में भी वह कार्यक्रम काफी चर्चित रहा था। आखिर योगासनों को भी आश्रमों की चाहरदीवारी तक ही क्यों सीमित रखा जायें? उसे भी आम जनता का विषय क्यों न बनाया जाय?

इन्हीं प्राचार्य महोदय ने अपने स्कूल की ओर से एक वैदिक शिक्षा केन्द्र भी प्रारम्भ किया है, जिसके माध्यम से प्रति दो सप्ताह बाद स्कूल के सभागार में ही सायंकाल ५:३० से ६:३० तक आर्य समाज के सत्संग का कार्यक्रम रखा गया है, जिसमें किसी न किसी विशिष्ट विद्वान् का व्याख्यान होगा। इसमें स्कूल के ११वीं और १२वीं कक्षा के विद्यार्थियों के अलावा आसपास की अन्य समाजों के नर—नारियों को भी आमन्त्रित किया जायेगा। नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी को एक साथ आर्य समाज के सत्संग में शामिल होने की परम्परा शुरू करना ही इसका मुख्य लक्ष्य है।

हम समझते हैं कि ये अनुकरणीय कदम है। हमारे अन्य स्कूलों में भी विद्यारम्भ संस्कार और वैदिक शिक्षा केन्द्र की इसी प्रकार की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो तो बहुत अच्छा है। आर्य समाज और डॉ.ए.वी. के साथ जुड़े जितने स्कूल और पब्लिक स्कूल हैं, उनमें इन विशेषताओं को लाना हमारे उस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होगा, जिनके लिये इन संस्थानों की स्थापना की गई थी। ये विशेषताएं ही हमारी इन संस्थाओं को और अधिक सार्थक बनायेंगी।

मंत्र-द्रष्टा शतक्रतु सन्तराम

भारतीय अस्मिता को अपने उज्ज्वलतम रूप में प्रकट करने के लिये ऋषिवर दयानन्द ने "स्व" के प्रति भारतीय जनता का अनुराग जगाने को ही मूल समझा था। मूलशंकर दयानन्द ने इस दृष्टि से जिस प्रकार मूल तक स्वयं पहुंचने का और अन्यों को पहुंचाने का जो प्रबल प्रयत्न किया, उसकी तुलना कदाचित् किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किये गये प्रयत्न से नहीं की जा सकती। स्वधर्म, स्वभाषा, स्वजाति, स्वराज्य और स्वसंस्कृति में सर्वत्र जो 'स्व' पूर्वप्रविष्ट है, वही भारत की आत्मा को पहचानने का सही तरीका है। राष्ट्र की आत्मा को जगाने के लिये इसीलिये उन्होंने स्व पर इतना जोर दिया था।

यह भी निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि बाद में महात्मा गांधी ने जिस प्रकार लोक-मानस को आन्दोलित करके स्वतंत्रता-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर किया, उसकी पृष्ठभूमि उससे पहले ऋषि दयानन्द और आर्य समाज के धुन के धनी कार्यकर्ता तैयार कर चुके थे। अगर वह पृष्ठभूमि पहले से तैयार न होती, तो महात्मा गांधी को भी सफलता न मिलती। उस युग में ऋषि दयानन्द द्वारा जिन पांच सकारों पर जोर दिया गया था, उनमें से किसी एक सकार का भी सेवन करना और उसके पीछे अपने जीवन को लगा देना सभी राष्ट्रकर्मी अपना कर्तव्य समझते थे। उस समय उक्त पांचों सकारों का उद्देश्य एक ही था। इसलिये ये पांचों सकार इस तरह खानों में बंटे हुए नहीं थे जिस तरह आज बंटे हुए हैं। उस समय अपना धर्म, अपनी भाषा, अपना देश, अपना राज्य और अपनी संस्कृति—इन सब को राष्ट्रयेता लोग एक दूसरे का पूरक समझते थे। इसलिये जिस की जिस विषय में रुचि होती या जिसकी जैसी योग्यता होती, वह उसके अनुसार इन पांचों में से किसी के भी माध्यम से अपने जीवन को राष्ट्र के लिये अर्पित करना अपना कर्तव्य समझता था।

ऋषि दयानन्द ने राष्ट्र के उद्घार के लिये पंच-सकार वाले जो पांच मंत्र दिये थे, उनमें से दो मंत्रों का प्रत्यक्ष दर्शन करके उनके प्रति अपने आपको अर्पित कर देने वाले मंत्र-द्रष्टा ऋषि का नाम है— सन्तराम। उसने स्वभाषा और स्वजाति के मंत्र की सार्थकता का न केवल प्रत्यक्ष दर्शन किया (ऋषयो मंत्र-द्रष्टारः), बल्कि

उतने से सन्तुष्ट न रहकर इन दोनों मंत्रों के प्रचार में अपना सारा जीवन लगा दिया। इसलिये उनको इन दोनों मंत्रों का मंत्र-द्रष्टा ऋषि न कहें तो क्या कहें?

हमने दिवंगत श्री सन्तराम को मंत्र-द्रष्टा के पश्चात् दूसरा विशेषण “शतक्रतु” का दिया है। शतक्रतु का अर्थ संस्कृत साहित्य में इन्द्र किया जाता है। परन्तु सामान्य अर्थ है— सौ यज्ञ करने वाला। पौराणिक व्याख्यान के अनुसार जो व्यक्ति अपने जीवन में सौ यज्ञ पूरे कर लेता है, वह इन्द्र के आसन का अधिकारी बन जाता है। इसलिये जब कोई ऋषि यज्ञों की परम्परा का पालन करते हुए सौ की संख्या के आसपास पहुंचने लगता है, तो इन्द्र का आसन डांवाडोल हो जाता है। और वह उस ऋषि का तप और यज्ञ भंग करने के लिये स्वर्ग से किसी न किसी अप्सरा का भेजता है, जिससे उस ऋषि के सौ यज्ञ पूरे न होने पायें और इन्द्र का अपना आसन सुरक्षित रहे। यह तो पौराणिक व्याख्यान की बात है, परन्तु शतक्रतु का जो सामान्य अर्थ है, ‘सौ यज्ञ करने वाला’ उसमें भी एक घुण्डी छिपी हुई है। शतक्रतु का अर्थ केवल सौ यज्ञ करने वाला नहीं, प्रत्युत ‘शत-प्रतिशत यज्ञ करने वाला’ यह है। इस पद में शत शब्द केवल सौ का द्योतक नहीं, बल्कि शत-प्रतिशत का द्योतक है इस प्रकार शतक्रतु का सही अर्थ है—परमात्मा। क्योंकि शत-प्रतिशत निःस्वार्थ कार्य करने वाला सिवाय परमात्मा के और कोई व्यक्ति नहीं हो सकता। कोई कितना ही निष्काम कर्म (यज्ञ का असली अर्थ यही तो है) क्यों न करे, परन्तु वह शत-प्रतिशत निष्काम नहीं हो सकता। क्योंकि जब तक मनुष्य का जीवन विद्यमान है तब तक शरीर और जीवन की रक्षा के लिये कुछ न कुछ सकामता अवश्यम्भावी है। अन्यथा मनुष्य के जीवन की व्याख्या ही नहीं हो पायेगी। परोपकारी से परोपकारी व्यक्ति भी केवल कुछ प्रतिशत ही निष्काम कर्म कर सकता है। ऐसी परम आत्मा (परमात्मा) तो केवल सर्वनियन्ता और दयालु जगदीश्वर ही है, जिसका कोई भी कर्म कभी सकाम नहीं होता, उसका प्रत्येक कर्म निष्काम ही होता है। इसलिये मनुष्य कभी शतक्रतु नहीं हो सकता। अर्थात् इन्द्र का आसन सुरक्षित रहता है। कोई व्यक्ति प्रभु के आसन को नहीं छीन सकता।

शतक्रतु का एक और भी अर्थ है, जिसे उसका गौण अर्थ कहना चाहिये। वह है सौ वर्ष तक यज्ञ करने वाला। श्री सन्तराम सौ वर्ष से भी एक वर्ष अधिक और पार करके इस धराधाम से वैसे ही विदा हुए हैं, जैसे कोई क्रिकेट का खिलाड़ी अपना शतक पूरा करने के पश्चात् मैदान से विदा होता है। स्वभाषा के रूप में हिन्दी के द्वारा और स्वजाति के रूप में जात-पात तोड़कर सारे देश की एक ही भाषा और एक ही जाति अपनाने का उपदेश देकर राष्ट्र की एकता की

साधना करने वाला यह साधक जिस प्रकार से निष्काम कर्म करता रहा, वह भी अपने आप में एक इबरत—खेज उदाहरण है।

श्री सन्तराम के ‘भूयश्च शरदः शतात्’ के अनुसार एक सौ एक वर्ष पार करके इस दुनिया से जाने पर यह बात कहने को मन करता है कि शायद परलोक में अब हिन्दी—विरोधियों और छुआछूत और जातपात के समर्थकों की निरन्तर बढ़ती जाती संख्या को देखकर स्वयं परमात्मा ने उनको अपने पास बुला लिया, जिससे कि वे परलोक में भी अपने उसी मिशन को जारी रख सकें।

१६ जून १६८८



आर्यसमाज-मन्दिरों का उपयोग

अभी तक एक भी समाज—मन्दिर ऐसा नहीं है, जहां पुस्तकालय और वाचनालय की अच्छी व्यवस्था हो।... सब से अधिक दुःख की बात यह है कि अधिकांश समाज—मन्दिर केवल रविवार के दिन ही खुलते हैं।... मन्दिर के द्वारा केवल रविवार को दो घण्टे के लिए ही न खुलें, बल्कि सातों दिन, चौबीसों घण्टे खुलें, और वहां हर समय कोई न कोई जनोपयोगी कार्य चलता रहे।... जो बच्चे स्कूलों में नहीं जाते, उनके लिए हिन्दी—संस्कृत सिखाने की निःशुल्क व्यवस्था की जा सकती है। दोपहर को महिलाओं की सिलाई—बुनाई की कक्षा चलाई जा सकती है। शाम को आर्यकुमार—सभा की बैठकों में भाषणों या बौद्धिक विचारों को देने की व्यवस्था हो। रात को प्रौढ़—शिक्षा की कक्षाएं चलाई जाएं।... समाज—मन्दिर सप्ताह के छह दिन समुद्र के किसी सुनसान टापू की तरह बना रहे, और सातवें दिन कुछ (बूढ़े) पंछी वहां चहचहाने लगें, यह स्थिति वांछनीय नहीं है।

समाज—मन्दिर में पूजी की प्रतीक शानदार इमारतों के बजाय ग्रामीण—श्रम की प्रतीक ऐसी इमारतें होनी चाहिए, जो प्राचीन ऋषियों के आश्रमों का सा आभास दें।... ग्राम—ग्राम में ऐसे समाज—मन्दिर बनें। उनके साथ छोटी सी फुलवारी, या खेती की ज़मीन हो, जो बालकों के श्रम से ही सिंचित और फलित हो। प्रत्येक समाज—मन्दिर में उसके पुरोहित या गुरु के रूप में एक—एक वानप्रस्थी—दम्पती रहे, और वह ग्राम—ग्राम में गुरुकुलों के रूप में बालकों को शिक्षित करे।

—‘राष्ट्रीय एकता की बुनियादें,’ पृष्ठ ४८-५१

धर्म-परिवर्तन की धमकी

पुरी के शंकराचार्य श्री निरंजनदेव तीर्थ ने जिस प्रकार जयपुर में हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के विरुद्ध बयान दिया था, उससे तो देश में और खासतौर से समस्त हिन्दू समाज में तीव्र रोष और आक्रोश की लहर दौड़ गई। शायद ही कोई संस्था बची हो, जिसने शंकराचार्य के इस बयान का विरोध न किया हो। अनेक संस्थाओं ने तो शंकराचार्य को गिरफ्तार करने की मांग भी कर डाली। सबसे अधिक रचनात्मक विरोध किया आर्य समाज ने। स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व में आर्य समाज के साधु-सन्यासियों ने सैकड़ों हरिजनों के साथ मन्दिर में प्रवेश का निश्चय किया। इका के कार्यकर्ता और राजस्थान की सरकार इस पद-यात्रा को बोच में ही रोक देने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं। जब यह पंक्तियां लिखी जा रही हैं, तब १२ जुलाई के आने में तीन दिन की देर है। इसलिए उस दिन आर्य समाज का यह रचनात्मक कदम सफल होगा या विफल कर दिया जायेगा, यह कहा नहीं जा सकता। कुछ लोगों ने यह भी कहा है कि जब आर्य समाज मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं करता, तो उसे हरिजनों को साथ लेकर मन्दिर-प्रवेश का यह इतना बड़ा आडम्बर क्यों करना चाहिए? उन बन्धुओं से निवेदन है कि यह प्रश्न मूर्ति-पूजा में आस्था या अनास्था का नहीं है। इस प्रश्न का सीधा सम्बन्ध मानवाधिकारों के साथ है। आर्य समाज जिस समता-मूलक समाज का निर्माण करना चाहता है, वह इन मानवाधिकारों पर ही अवलम्बित है। हरिजनों के ही क्यों, समाज के किसी भी वर्ग के मानवाधिकारों का यदि हनन होता हो, तो आर्य समाज को उसके प्रतिरोध के लिये सबसे आगे होना ही चाहिए। यह आर्य समाज की प्रगतिशीलता का तकाज़ा है। जहां भी अज्ञान, अन्याय और अभाव होगा उसके निवारण के लिए जी-जान से ही जुट जाना आर्य समाज के जीवित रहने को सार्थक बनाता है। यदि आर्य समाज में से यह तत्त्व निकल जाये, तो उसको भी मुर्दों की श्रेणी में गिना जा सकता है।

हमें सबसे अधिक दुःख इस बात पर हुआ है कि कुछ अति उत्साही हरिजन बन्धुओं ने यह धमकी दी है, कि यदि शंकराचार्य ने अपना बयान वापिस नहीं लिया और देश से क्षमा नहीं मांगी, या सरकार ने उनके विरुद्ध कार्यवाही नहीं की,

तो इतने दिनों के बाद हम सब धर्मान्तरण करके मुसलमान और ईसाई बन जायेंगे। शंकराचार्य के दम्भ का, अवैदिक और अराष्ट्रीय मन्तव्य का, और समस्त हिन्दू समाज को समता—मूलक समाज बनने में बाधा डालने का यह कौन सा जवाब है? यह तो ईंट का जवाब पथर से नहीं हुआ। यह तो समझ में आता है कि इस प्रकार के बयान के विरोध में शंकराचार्य का बहिष्कार किया जाये, परन्तु इस्लाम—ईसाईयत को ग्रहण करने की धमकी की क्या तुक है? हम कोई निकृष्ट उपमा नहीं देना चाहते, परन्तु यह आक्रोश कुछ वैसा ही है जैसे कोई अपने पड़ोसी के लिए कहे कि उसने मेरे बर्तन में अभक्ष्य पदार्थ का सेवन किया है, इसलिए में उसके बर्तन में पुरीष खाकर दिखाऊंगा। ऐसी बेतुकी बात किसी के मुंह से शोभा नहीं देती।

अपने हरिजन—बन्धुओं से हम निवेदन करना चाहते हैं कि “वैदिक धर्म केवल सर्वार्णों की बपौती नहीं है। हरिजन—बन्धु भी समाज के वैसे ही अविभाज्य अंग हैं जैसे तथाकथित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि। यह ध्यान रहे कि वैदिक धर्म जन्म—जाति का समर्थक नहीं है। वह कर्म—प्रधान है। जो जैसा कर्म करता है, वह उसी वर्ण का दावेदार है। वैदिक काल के पश्चात् मध्यकाल और पौराणिक काल में जन्मजाति का कोढ़ राष्ट्र को बिखरे गया। गत एक हजार सालों की दासता राष्ट्र के उसी बिखराव का परिणाम थी। पुरी के शंकराचार्य उस सत्य—सनातन वैदिक धर्म के प्रतिनिधि नहीं हैं। वह केवल मध्यकाल से नाना रुद्धियों, अंधविश्वासों और अवैदिक मान्यताओं से ग्रस्त पतनोन्मुख हिन्दू—समाज के प्रतिनिधि हैं। वैसी वेद—विरुद्ध मान्यताएं तो समाज का पतन ही कर सकती हैं, कभी उत्थान नहीं कर सकती।”

इसलिए अपने इन दिग्प्रभित बन्धुओं से हमारा निवेदन है कि आप शंकराचार्य के नहीं, उस वैदिक धर्म के अनुयायी बनें जो हिन्दुत्व का मूल शुद्ध रूप है, और जिसका प्रतिपादन आर्य समाज करता है। जब तक आर्य समाज के द्वार अपने इन पीड़ित बन्धुओं के लिए खुले हुए हैं, तब तक उनकी धर्मान्तरण की धमकी व्यर्थ है।

एक ओर सारे संसार के बुद्धिजीवी और समझदार लोग हैं, जो वैदिक धर्म की सत्यता से प्रभावित होकर उसकी गौरव—गरिमा को स्वीकार कर रहे हैं। ऐसे बुद्धिजीवियों में मुसलमान, ईसाइयों तथा जन्य विधर्मियों की संख्या भी कम नहीं है। दूसरी ओर हमारे यह भ्रांत बन्धु अपने पूर्वजों की महान् विरासत को तिलांजलि देने की बात सोचते हैं, तो उनको अकलमंद कौन कहेगा? हाँ, मतिमन्द तो वे हैं ही।

आर्य-समाज और वल्लभ-सम्प्रदाय

पिछले दिनों पुरी के शंकराचार्य स्वामी निरंजनदेव तीर्थ द्वारा नाथद्वारा के मन्दिर में हरिजनों के प्रवेश के प्रश्न को लेकर स्वामी अग्निवेश ने जो आर्य समाज की पदयात्रा निकाली थी, उसकी चर्चा सारे देश में हुई। नाथद्वारा का मन्दिर वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित वैष्णवों के पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय का मन्दिर है। नाथद्वारा की सारी बस्ती और वहां के निवासियों के जीवन का आधार एक तरह से नाथद्वारा का मन्दिर ही है, इसलिये उसके साथ नाथद्वारा—वासियों की केवल भावनाएं ही नहीं, बल्कि स्वार्थ भी जुड़े हुए हैं। इसलिये नाथद्वारा के मन्दिर की किसी भी मर्यादा का उल्लंघन उन लोगों को अपने स्वार्थों पर आघात प्रतीत होता है। इसीलिये स्वभावतः वे इस प्रकार के किसी भी आन्दोलन का विरोध करेंगे ही।

दूसरी ओर कुछ ऐसे बुद्धिजीवी लोग हैं, जिनमें आर्य समाजियों की संख्या भी कम नहीं है, जो यह कहते हैं कि जब स्वामी अग्निवेश तथा अन्य आर्य समाजी मूर्तिपूजा के विरोधी हैं, तो हरिजनों को देवदर्शन के लिये मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन क्यों करते हैं? यह उनकी केवल हिन्दू-समाज को विघटित करने की या कुछ नेताओं की अपनी राजनैतिक नेतागीरी चमकाने की चाल—मात्र है।

हम इस सम्बंध में ऐतिहासिक तथ्यों की ओर समर्प्त देशवासियों का ध्यान खींचना चाहते हैं जिससे यह पता लग सके कि वल्लभ-सम्प्रदाय के इस नाथद्वारा मन्दिर में हरिजनों के प्रवेश के आन्दोलन के पीछे कौन सी मनोवृत्ति काम कर रही है? पुनः ऐतिहासिक घटनाओं के प्रकाश में वर्तमान घटनाचक्र को और उसके महत्व को समझने में आसानी होगी।

आर्य समाज की स्थापना से पहले (आर्य समाज की स्थापना सन १८७५ में हुई थी) १८६२ में बम्बई हाई कोर्ट में एक महत्वपूर्ण मानहानि का मुकदमा चला था जो “महाराज लायबल केस” के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। यह मुकदमा लगभग १० वर्ष तक चलता रहा। “सत्यप्रकाश” नामक समाचार-पत्र के सम्पादक ने वल्लभाचार्य और उनकी इच्छा तथा आचार-विचार की आलोचना करते हुए, उक्त सम्प्रदाय के तत्कालीन आचार्य की आन्तरिक लीलाओं पर लेख प्रकाशित किया था, जिससे उद्धिग्न होकर गोस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य ने पत्र

पर मानहानि का मुकदमा चलाया, और अपने सम्प्रदाय का मूल आधार वेद पुराण तथा अन्य धर्मशास्त्रों को बताया। परन्तु अदालत में वे वेदों और ब्राह्मण—ग्रन्थों के प्रमाण तो क्या उनके नामों का भी ठीक—ठीक उल्लेख नहीं कर सके। परिणामस्वरूप उनका मान—हानि का दावा खारिज हुआ, और अन्त में “सत्यप्रकाश” की विजय हुई।

इस मुकदमे से इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में अपने सम्प्रदाय के सम्बंध में तरह—तरह की जिज्ञासाएं और शंकाएं उठने लगीं। मुकदमे के दौरान जब पुष्टिमार्ग के अन्य आचार्यों की लीलाओं की पोल खुलने लगी, तब सम्प्रदाय के अनुयायियों में अपने गुरुओं और सम्प्रदाय के प्रति सहज विरक्ति का भाव पैदा हुआ। जिन दिनों लायबल केस चल रहा था, उन्हीं दिनों समाचार—पत्रों में ऋषि दयानन्द के काशी—शास्त्रार्थ की धूम मची हुई थी। वे समाचार बम्बई में भी पहुंच रहे थे, और वहां के समाज—सुधारकों और बुद्धिजीवियों में ऋषि दयानन्द के प्रति कौतुहल बनने लगा था। वे लोग समाचारों की तथा ऋषि दयानन्द के अन्य भाषणों के समाचार—पत्रों में छपे विवरणों को बड़े चाव से पढ़ते, और आपस में तथा अपने मित्रों में उनकी चर्चा करते। समाज—सुधारकों को ऋषि के विचारों से अपने समाज—सुधार के कार्यों में बड़ी प्रेरणा और सहायता मिलती थी।

संयोग की बात है कि कभी मध्यप्रदेश और जबलपुर आदि का भ्रमण करते और वहां भाषण देते और शास्त्रार्थ करते ऋषि दयानन्द सन् १८७४ ईस्वी के नवम्बर मास में बम्बई आ विराजे। ऋषि के विचारों से प्रभावित महानुभावों ने उनका भावभरा स्वागत किया, और उनके निवास के लिये नगर के कोलाहल से दूर बालकेश्वर में प्रणामी—सम्प्रदाय के मठ में व्यवस्था की। उन्हीं महानुभावों ने समाचार—पत्रों में नगर में ऋषि के पधारने की सूचना देते हुए, यह विज्ञापन छपवा कर वितरित किया कि जिस किसी को धर्म के सम्बंध में या वेदादि शास्त्रों के सम्बंध में कोई शंका हो तो वे ऋषि के निवास—स्थान पर जाकर, अपनी शंकाओं का समाधान कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त धोबी तालाब स्थित फिरामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट के सभागार में नियमित रूप से स्वामी जी के सार्वजनिक व्याख्यानों की व्यवस्था की। महर्षि के विद्वत्तापूर्ण और तर्कपूर्ण व्याख्यानों को सुनकर, तथा उनके निवास स्थान पर जाकर शंका समाधान करने वाले सभी लोग, तथा अन्य धर्मसुधारक ऋषि के विचारों से बहुत प्रभावित हुए। इन प्रभावित होने वाले लोगों में कुछ भाटिया सेठ भी थे, जिनमें से कई पुष्टिमार्गीय वल्लभ—सम्प्रदाय के अनुयायी थे। कभी—कभी इस सम्प्रदाय के पुरस्कर्ता पंडित भी ऋषि के पास आकर शास्त्र की चर्चा किया करते थे। परन्तु उनका पाणिडत्यपूर्ण उत्तर सुनकर वे निरुत्तर हो जाते, और विचलित भी हो जाते। ज्यों—ज्यों पुष्टिमार्ग—सम्प्रदाय के अनुयायियों ने इन

विचारों की चर्चा बढ़ते देखी, त्यों—त्यों आर्य समाज के जन्म की पृष्ठभूमि तैयार होती गई।

अन्त में महर्षि के विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों, पाण्डित्यपूर्ण और युक्तियुक्त व्याख्यानों से मुग्ध होकर, अनेक सद्ग्रहस्थों और समाज—सुधारकों ने एक दिन प्रवचनों के पश्चात् रात्रि के समय ऋषि की सेवा में निवेदन किया कि यदि किसी सभा या संस्था की स्थापना हो जाए, तो आपके इस पवित्र कार्य को स्थाई रूप मिल जायेगा, जिससे देश और जाति का बहुत भला होगा। तब ऋषि ने उत्तर दिया कि “आज देश में धार्मिक संस्थाओं और पथों की कमी नहीं है। मैं कोई अपनी बनाई हुई नई बात नहीं कहता। मैं तो वेद और शास्त्रों में प्रतिपादित बातों का ही उपदेश करता हूं। हमारे देश में २५ कोटि आर्य हैं। उनमें आपस में कुछ बातों में मतभेद है, परन्तु वे सब प्रेमपूर्वक विचार—विमर्श करेंगे तो वे मतभेद भी स्वयं दूर हो जायेंगे। यदि संस्था में पुरुषार्थ करके परोपकार कर सको तब तो मेरी कोई मनाही नहीं। किन्तु यदि यथोचित व्यवस्था न रखोगे तो आगे चलकर गड़बड़ाध्याय हो जायेगा। मैं तो जैसे अन्यों को उपदेश करता हूं, वैसा ही आप लोगों को करूंगा। इतना लक्ष्य में रखना कि मेरा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है, और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूं। यदि मेरी भी कोई गलती आगे चलकर पाई जाये तो युक्तिपूर्वक परीक्षा करके उसे भी सुधार लेना। नहीं तो आगे चलकर यह भी एक मत हो जायेगा। आज भारत में जितने भी मत—मतान्तर प्रचलित हैं, वेद—शास्त्र—रूपी समुद्र में मिला देने पर, नदियों के समान सबका पुनः धर्मेक्य हो जायेगा। इससे धार्मिक सामाजिक और व्यावहारिक धारणा आपोआप हो जायेगी।”

इसके बाद संस्था के नियम और विधान तैयार किये गये और लगभग ६० सज्जन प्रथम सभासद बने, जिनमें से कई गुजरात और महाराष्ट्र के ऐसे व्यक्ति भी शामिल थे, जिन्होंने भावी आर्य समाज के सभासद होने की उत्सुकता दिखाई थी। उनको पुष्टिमार्ग के अनुयायियों ने, उनके धर्मचार्यों ने जातीय बहिष्कार की धमकी दी, जिससे पुष्टिमार्ग के कई प्रतिष्ठित अनुयायी विचलित भी हुए। उन्हीं दिनों वल्लभ—सम्प्रदाय के पं० गुट्टुलाल जी ने महर्षि के साथ शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। परन्तु वे समय पर शास्त्रार्थ करने के लिये नहीं आये, तब महर्षि ने पुष्टि—मार्ग के सिद्धांतों के खंडन में अपने प्रवचन प्रारम्भ कर दिये। जनता में “वेद में मूर्ति—पूजा है या नहीं” इस विषय को लेकर काफी ऊहापोह चलती रही। परन्तु स्वामी जी के प्रबल तर्क और प्रखर पाण्डित्य के सामने किसी की भी दाल नहीं गली। तब अन्त में पुष्टिमार्ग के उन्हीं अनुयायियों ने, स्वामी जी के पक्ष में दलबद्ध होकर भारत—भूमि में आर्य समाज का पुण्य बीजारोपण किया।

उसके लगभग १०० साल के बाद एक दूसरी ऐतिहासिक घटना घटी जो इस प्रकार है—बम्बई—प्रदेश आर्य—प्रतिनिधि सभा के उपदेशक श्री वेद मित्र ठाकौर ने गुजराती मासिक पत्रिका “वेद—विज्ञान” के दिसम्बर १९६१ ईसवी के अंक में अत्रि—स्मृति का ३८२वां निम्न श्लोक उद्धृत किया था :

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं, शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।

पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति, भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥।

इसका अर्थ उन्होंने किया था “वेदज्ञान रहित मनुष्य शास्त्र बांचते हैं, शास्त्र—रहित मनुष्य खेती करते हैं, और भ्रष्टाचारी अधम मनुष्य भागवत बांचते हैं।”

इस लेख पर गुजरात सरकार के गृह—विभाग के आदेशानुसार पुष्टिमार्ग के अनुयायियों ने कचहरी में अभियोग चलाया। इस अभियोग की सूचना मिलने पर बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री वेणीभाई आर्य को जब इस अभियोग की सूचना मिली, तो सभा ने इस केस की पैरवी का भार अपने ऊपर लिया। यह केस भी आर्य समाज के लिये एक ऐतिहासिक और प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया था। अन्त में आर्य जगत् के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री ने भरुच जाकर, जहां यह अभियोग चलाया गया था, केस की जिस पाइडिट्यपूर्ण ढंग से पैरवी की उससे जज भी चकित रह गया। और अन्त में उसने ३० जून, १९६४ को अपना फैसला देते हुए, श्री वेद मित्र ठाकौर को निर्दोष घोषित कर अभियोग से मुक्त कर दिया। इस प्रकार आर्य समाज की पुनः विजय हुई। तथा वल्लभ—सम्प्रदाय के खंडन के साथ आर्य समाज का जन्म हुआ।

इसलिये इस प्रकार के पाखंडों के निराकरण के लिये आर्य समाज का आगे आना उसे विरासत में मिला है, जिसे वह किसी हालत में छोड़ नहीं सकता।

१८ सितम्बर १९८८



आप सौमनस्य के प्रतीक, सज्जनता की मूर्ति, और वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ होने के साथ—साथ, राष्ट्रीयता के उपासक, भारतीयता के समर्थक, तथा साहित्य के अनन्य साधक हैं। आपमें वैदिक—सिद्धान्तों का विषयानुकूल ऐसा परिपक है जो वक्तुतव—कला का सहयोग पाकर शिथिल शिराओं में भी रक्त का संचार करता है।

—मूलचन्द गुप्त,
पूर्व—समपादक, ‘आर्यसन्देश’

सुभाषित

सन् १९४७ के अगस्त मास की बात है। कलकत्ता में भीषण साम्प्रदायिक उपद्रव हो रहे थे, और महात्मा गांधी आमरण अनशन कर रहे थे। १५ अगस्त १९४७ को देश स्वतंत्र हो रहा था। बी०बी०सी० ने सोचा कि इस अवसर पर संसार के नाम 'स्वतंत्र भारत का पैगाम' प्रसारित किया जाए। इसके लिए वे अपना तामझाम लेकर राष्ट्रपिता के पास कलकत्ता पहुंच गये, और उनके समक्ष अपना मनोरथ कहा। महात्मा गांधी का उस दिन मौन भी था। उन्होंने बी०बी०सी० वालों को कागज के पुर्जे पर लिखकर दिया—

“संसार से कह दो, गांधी अंग्रेज़ी नहीं जानता।”

एक ऐतिहासिक कार्य

प्रसिद्ध इतिहास—वेत्ता और इतिहास लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार का एक भयंकर कार—दुर्घटना में आकस्मिक निधन समस्त आर्य जगत् के लिए कितना ही दुःखदायक क्यों न हो, किन्तु अब इसको सृष्टि का नियम और दैवीय विधान मानने के सिवाय और कोई चारा नहीं है। हमने “दैवीय विधान” शब्द का प्रयोग किसी रहस्यात्मकता के लिए नहीं, किन्तु अपनी मनोभावना प्रकट करने के लिए किया है। अब से लगभग दस वर्ष पूर्व सन् १९७६ में जब वे भयंकर रूप से बीमार पड़े थे, तब उन्होंने रोग—शाय्या पर पड़े—पड़े ही यह संकल्प किया था कि अब यदि जीवन शेष रहा तो मैं उसे आर्यसमाज का इतिहास लिखने में बिताऊंगा। इसे ईश्वरीय चमत्कार ही समझना चाहिये कि यह संकल्प अपनी पत्नी के समक्ष लिखित रूप में प्रकट करने के पश्चात् वे रोग—मुक्ति की ओर तीव्र गति से बढ़ने लगे, और शीघ्र ही पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गये। तब उनके मन में यह धारणा और भी दृढ़ हो गई कि रुग्णावस्था में जो संकल्प मैंने किया था, उसको पूर्ण करने के लिए ही परमात्मा ने मुझे यह अवसर दिया है। वह तुरन्त आर्य समाज के बृहत् इतिहास लेखन की तैयारी में जुट गये।

संकल्प करना सरल है, परन्तु उसे पूर्ण करने के साधन जुटाना उतना सहज नहीं है। कितने ही महान् व्यक्तियों के संकल्पों के भग्नावशेषों से इतिहास भरा पड़ा है। परन्तु जब कोई व्यक्ति “कार्य वा साधयेयं देहं वा पातयेयं” के दृढ़ निश्चय के साथ अपने संकल्प को पूरा करने में जुट जाता है, तो ईश—कृपा से धीरे—धीरे संकल्पकर्ता के पुरुषार्थ के बल पर सहयोगी और साधन भी जुटते चले

जाते हैं। फिर पं० सत्यकेतु जी तो केवल दो हाथों वाले सामान्य व्यक्ति नहीं थे। उनको हम “सहस्र-बाहु” कहें तो शायद उनके श्रम, शक्ति और कर्तव्य का कुछ आभास हो। वे जितने प्रतिभाशाली और प्रखर प्रतिभा के धनी थे, इस का कुछ अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने केवल २६ वर्ष की आयु में ही अपने “मौर्य साम्राज्य का इतिहास” नामक अद्भुत ग्रन्थ पर उस समय का सर्वोच्च सर्वसम्मानित ‘मंगल प्रसाद पारितोषिक’ प्राप्त करके विद्वज्जगत् को चकित कर दिया था। उसके बाद तो वे एक के बाद एक इतिहास—संबंधी ग्रन्थ लिखते रहे, जिनमें से अनेक प्रशंसित और पुरस्कृत भी हुए और उनको वे यशस्वी बनाते रहे।

सबसे पहले अमरहुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने आर्य समाज के इतिहास को लिपिबद्ध करने का महत्त्व समझा और स्वयं इस कार्य को प्रारम्भ कर दिया। परन्तु बीच में ही वे मतान्ध मुसलमान की गोली का शिकार हो गये। तब इनके पश्चात् उनके सुपुत्र श्री पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने दो खण्डों में आर्य समाज का इतिहास लिखकर पूरा किया। पं० इन्द्रजी ने इस प्रकार अपना पितृ-ऋण चुकाया, परन्तु उस इतिहास को ही प्रकाशित हुए भी अब लगभग आधी सदी बीतने को हो गई। आर्य समाज की आयु ही कुल ११४ वर्ष की हुई है। फिर उसमें से आधी सदी निकाल देने पर तो इतिहास आधा ही रह जायेगा। इस बीच इस दिशा में कुछ अन्य प्रयत्न भी हुए, परन्तु वे आर्य समाज जैसे देशव्यापी जन-आन्दोलन की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो सके। जब प्रो० सत्यकेतु ने यह दायित्व संभाला तो आर्य जनता को विश्वास हो गया कि अब यह काम आर्य समाज के गौरव के अनुरूप सिद्ध होकर ही रहेगा।

संक्षेप में आर्य जनता को यह सूचित करते हुए हमें हर्ष होता है कि प्रो० सत्यकेतु जी, आर्य समाज का यह बृहत् इतिहास जो पांच हजार पृष्ठों के कुल मिलाकर सात खण्डों में पूरा हुआ है, सन् १६८८ के अन्त तक ही पूरा कर चुके थे। इतना बड़ा ऐतिहासिक और स्मरणीय कार्य करने के पश्चात् अक्समात् यह कार—दुर्घटना उनके निधन का कारण बनी। उससे भी हमें कुछ ऐसा आभास हुआ कि पिछले दस वर्ष जो उनको रोग—मुक्त होने के पश्चात् अपने संकल्प को पूरा करने के लिए मिले थे, वह संकल्प पूरा होने के पश्चात् जीवन की अमानत देने वाले प्रभु ने दुर्घटना के बहाने अपनी अमानत वापिस ले ली। “दैवीय विधान” शब्द के प्रयोग के पीछे हमारी यही मनोभावना है।

इस इतिहास के संबंध में विस्तार से यहां कहना संभव नहीं है। केवल संक्षेप से इतना ही कह सकते हैं कि एक—एक खण्ड अपने आप में उस विषय के विश्व—कोष की तरह है। इन सातों खण्डों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् पिछले

सौ वर्षों के राष्ट्रीय जागरण में आर्य समाज की भूमिका पर और उसके महत्त्व पर जो प्रकाश पड़ता है, वही आर्य समाज का सही परिचय है; और तभी यह पता लगता है कि कश्मीर से कन्या कुमारी तक और कच्छ से कामरूप तक आर्य समाज का यह विशाल आन्दोलन इतने थोड़े समय में इतना व्यापक रूप कैसे धारण कर गया। आर्य समाज के बिना पिछले सौ वर्ष के राष्ट्र के इतिहास की कल्पना नहीं की जा सकती। यह केवल आर्य समाज का इतिहास नहीं, बल्कि समूचे राष्ट्र के जागरण का इतिहास है।

यह ऐतिहासिक कार्य न केवल स्मरणीय है, प्रत्युत संग्रहणीय है; और हम उस आर्य समाज को और उस आर्य संस्था को भाग्यहीन समझेंगे जो इन सातों खण्डों से अपने पुस्तकालय को सुसज्जित न कर सके। पं० सत्यकेतु जी अपने उस स्मरणीय कार्य के लिए सदा अमर रहेंगे, और आर्य जगत् इस उपकार के लिए सदा उनका आभारी रहेगा। पंडित जी तो अपना काम करके चले गये, अब आर्य-बंधुओं को अपना काम करना है। अगर प्रत्येक आर्य संस्था और आर्य समाज में यह सातों खण्ड जो इस समय केवल ५००/-रु० में उपलब्ध हैं, नहीं पहुंच पाये, तो क्या पं० सत्यकेतु जी का यह सारा परिश्रम और संकल्प-पूर्ति का दस वर्ष-व्यापी अध्यवसाय व्यर्थ नहीं हो जायेगा? आर्यजनों तक ही क्यों, इस इतिहास को गैर-आर्यसमाजियों तक भी पहुंचाइये, जिससे वे आर्य समाज के सही स्वरूप को समझ सकें।

७ मई १९८६



“सच तो यह है कि आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कोई नई बात नहीं कही, प्रत्युत ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त प्राचीन ऋषि-महर्षि जो भी कुछ कहते आए, काल-क्रम से उस पर पड़े आवरण को हटाकर उन्होंने उसी उद्घोष को दुहराया और वेद-प्रतिपादित, शाश्वत सत्य सनातन धर्म की रक्षा के लिए ही आर्यसमाज की स्थापना की। इस दृष्टि से आर्यसमाज को कोई पृथक् मत, मज़हब या सम्प्रदाय न कहकर एक ऐसा आन्दोलन कहना चाहिए जो बुद्धिवाद का आश्रय लेकर वैदिक धर्म के शुद्ध स्वरूप को जनता के सामने उपस्थित करता है। इसलिए यदि आर्यसमाज को समझना हो तो वेदादि सत्य शास्त्रों में प्रतिपादित सच्चाइयों को समझना चाहिए।”

—‘चयनिका’, पृष्ठ ६०

सुभाषित

क्वचिद् वीणावादः क्वचिदपि च हाहेति रुदितं।
क्वचिद् विद्वद्गोची क्वचिदपि सुरामत्त-कलहः।
क्वचिद् रामा रम्याः क्वचिदपि गलित-कुष्ठवपुषो।
न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः?

-भर्तुहरि (वैराग्यशतक)

कहीं बज रही है वीणा तो कहीं हो रहा करुण विलाप।
विद्वानों की सभा कहीं तो कहीं सुरा से मत्त प्रलाप॥।
कहीं ललित ललनाएं हैं तो कहीं कुष्ठ से गलित शरीर।
अहो, न जाने अमृतमय है या विषमय यह जग गंभीर ?

-गोपालदास गुप्त

पत्रकार कालोनी में 'बार'

दक्षिण दिल्ली में एक पत्रकार कालोनी है जिसका नाम 'गुलमोहर पार्क' है। गुलमोहर का किसी बादरायण-संबंध से भी पत्रकारिता से कोई वास्ता नहीं है, परन्तु इस सारी कालोनी में अन्दर बाहर सब तरफ गुलमोहर के पेड़ लगे हुए हैं, इसलिए इस कालोनी का यह नाम पड़ा। पहले हम समझते थे इसके फूल सौने की मोहर जैसे सुनहरे चमकीले होते होंगे, इसलिए इसका नाम गुलमोहर होगा। पर अब पता लगा कि असली नाम गुलमोहर न होकर 'गुलमोर' है। क्योंकि इसके फूल की बनावट मोर के पंख से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इसका फूल जैसा चटकदार लाल रंग लिए होता है, वैसा शायद जवाकुसुम हो तो हो, कोई और फूल तो दिखाई देता नहीं। एक विशेषता यह भी है कि जब तेज गर्मी के कारण और पेड़ पौधे सूखते हैं, तब मई और जून की भरी गर्मी में इसके फूलों की बहार शुरू होती है, और सारी कालोनी जैसे तेज लाल रंग के चन्दोवे से भर जाती है।

अब क्योंकि यह पत्रकारों की कालोनी है, इसलिए थोड़ा बहुत सरकारी कर्मचारियों और अफसरों के मन में भी कालोनी के नाम का कुछ तो रौबदाब रहता ही है। इसलिए पानी, बिजली और सफाई आदि की दृष्टि से भी यह कालोनी एक अच्छी बरत्ती मानी जाती है। हरियाली भी खासी है। अब से लगभग २५ वर्ष पहले दिल्ली के पत्रकारों ने अपनी एक सहकारी समिति बनाई थी, और दिल्ली विकास

प्राधिकरण से भूमि अलाट करने की मांग की थी। उसके लिए कितनी भाग—दौड़ और संघर्ष करना पड़ा, इसे पुराने पत्रकार जानते हैं। अन्त में उनका प्रयत्न सफल हुआ। भूमि अलाट हुई। प्लाट काटे गये और सहकारी समिति के सदस्यों को वितरित किए गये। प्लाट ६६ साल की लीज पर दिए गये। फिर पत्रकारों ने अपनी खून—पसीने की कमाई से, कुछ सरकारी ऋण से, कुछ जीवन बीमा की राशि से और कुछ भविष्य—निधि के पैसों से सुरुचिपूर्ण मकान बनाये। कालोनी में लगभग ४०० प्लाट हैं, जिनमें उतने ही परिवार होंगे। किन्तु गत वर्षों में जिस तरह दिल्ली में जमीनों के दाम बढ़े हैं, विकास की रफ्तार के साथ जमीनों की भूख बढ़ी है, नित नई कालोनियां आबाद हुई हैं—उस सब को देखकर यह कहा जा सकता है कि भारत के सभी महानगरों का आजादी के बाद जितना विस्तार हुआ है, दिल्ली उन सबसे बाज़ी मार ले गया है। आखिर यह भारत जैसे महान् देश की राजधानी जो है। जो दिल्ली पहले कभी बम्बई जैसे महानगर की तुलना में एक ग्रामवाटिका जैसी लगती थी, अब वही दिल्ली संसार के किसी भी देश की राजधानी से अपनी शानोशौकत और सुन्दरता में कम नहीं है।

आजादी से पहले जिस दिल्ली की आबादी ४ लाख से भी कम थी, अब उसी दिल्ली की आबादी ८० लाख को पार कर गई है। उस दिल्ली में भी दक्षिण दिल्ली सबके आकर्षण का केन्द्र है। स्वयं 'दिल्ली विकास प्राधिकरण' ने अब इस कालोनी में एक वर्ग फुट जमीन की कीमत ६००० रु० निर्धारित की है। इसलिए अर्थलोतुप और व्यावसायिकता—प्रधान वातावरण का असर कालोनी के निवासियों पर भी कब तक न पड़ता? अब भाई—लोगों ने अपने मकानों की छतें कई—कई लाख रुपए में बेचनी शुरू कर दी हैं, और बड़े—बड़े प्रापर्टी डीलर तथा बिल्डर उन छतों पर दो—दो मंजिलें और ऊपर बनाकर बम्बई की तरह यहां भी फ्लैट बनाकर बेचने लगे हैं। जितने लाख में वे छत खरीदते हैं या ऊपर की दो मंजिले बनाते हैं, उससे दुगुनी राशि वे उन फ्लैटों को बेच कर कमा लेते हैं। अब तो कुछ बिल्डर कालोनीवासियों को यह सलाह भी देते दिखाई देते हैं कि "आपने अपना मकान अब से २० साल पहले ६०-७० हज़ार रुपए में बनाया होगा। अब आप हमको ३०-४० लाख रु० में इसे बेच दीजिए। आप दिल्ली में और कहीं जमीन खरीद लीजिए और उस पर अपना मकान बना लीजिए, तो जितनी राशि आपको मिलेगी उसकी केवल एक चौथाई में आपके दोनों काम बन जायेगे, और बाकी ३ चौथाई राशि से जीवन भर ऐशा करिये, क्योंकि इतनी बड़ी राशि आपको किसी अखबार की नौकरी से कभी प्राप्त नहीं हो सकती।"

उसी गुलमोहर पार्क में वहां के निवासियों ने खेल और सामुदायिक केन्द्र के नाम से मिले भूभाग पर अपने ही प्रयत्न से अष्टमुज कमल के आकार का एक भव्य सामुदायिक केन्द्र (कम्प्युनिटी सेन्टर) बनाया। पिछले दिनों केन्द्रीय सूचना मंत्री श्री हरकिशन लाल भगत ने इस भवन का उद्घाटन किया। आजकल मकान बनाना भी हंसी खेल नहीं है। फिर उसका रखरखाव तो और भी भारी पड़ता है। बिजली, पानी और गृह कर (हाउस टैक्स), जिसमें अग्निकर, सफाई कर और शिक्षाकर भी शामिल कर लिया जाता है, मकान मालिक को इतना भारी पड़ता है कि मकान मालिक सोचता है कि इससे तो अच्छा था कि पुरानी दिल्ली के किसी छोटे से मकान में किरायेदार के रूप में रहकर जिंदगी गुजार लेते। सामुदायिक केन्द्र बनने के बाद जब उसका रख-रखाव 'प्रबन्ध-समिति' को भारी पड़ने लगा तो उसने आधुनिक युग की प्रवृत्ति के अनुसार इस सामुदायिक केन्द्र में "बार" (शाराबघर) खोलने का इरादा किया। पीने-पाने के लिये पत्रकार वैसे ही बदनाम हैं, खासतौर से अंग्रेजी के। भले ही अब हिन्दी के पत्रकार भी उनकी देखादेखी उनसे किसी बात में पीछे न रहना चाहें। इसलिए पत्रकार कालोनी में इस सुझाव पर प्रबन्ध-समिति को सहज समर्थन प्राप्त हो जाने की आशा थी। आखिर उसने २३ जुलाई रविवार को गुप्त मतदान के द्वारा इस सम्बन्ध में कम्प्युनिटी सेन्टर के सदस्यों को बुलाकर फैसला करना चाहा, और इस सम्बन्ध में सर्कुलर जारी कर दिया।

हमारे लिये यह केवल धर्मसंकट का नहीं, परन्तु मानसिक संकट का भी प्रश्न था। जब यह सर्कुलर आया तो उसी दिन हमने प्रबन्ध-समिति के प्रधान को दूरभाष के द्वारा सूचित किया कि कम्प्युनिटी सेन्टर में "बार" खोलने के विरोध में हम भूख-हड़ताल करेंगे। अपने कालोनी के साथियों से भी चर्चा की। उन्होंने भी इस कदम का स्वागत किया। अन्त में जब हमको अपनी ज़िद पर अड़े देखा तो हमारे "हिन्दुस्तान" के पुराने पत्रकार साथी श्री देव कृष्ण व्यास भी आ जुड़े और उन्होंने कहा कि मैं भी आपके साथ हड़ताल पर बैठने को तैयार हूँ। हमने प्रबन्ध समिति को नोटिस दिया कि २१ जुलाई की शाम तक यदि आपने "बार" खोलने के सम्बन्ध में गुप्त मतदान वाला यह कदम वापस नहीं लिया, तो २२ जुलाई को प्रातः ६ बजे से हम दोनों कम्प्युनिटी सेन्टर के द्वारा पर भूख-हड़ताल पर बैठ जायेंगे। इस घेतावनी का असर हुआ। बार खोलने के विरोध में एक सर्कुलर भी तैयार हुआ। जिस पर कालोनी के निवासियों ने ही हस्ताक्षर अभियान चलाया। अन्त में प्रबन्ध समिति को विवश होकर कालोनी के सब निवासियों को यह सूचित करना पड़ा कि २३ जुलाई की मीटिंग स्थगित की जा रही है।

हम दोनों ने भी प्रबन्ध-समिति को धन्यवाद देते हुए यह सूचित कर दिया कि आपने "बार" खोलने का कदम स्थगित कर दिया, इसलिए हम भी अपनी भूख हड़ताल स्थगित कर रहे हैं। यदि भविष्य में आप इस दिशा में कोई सक्रिय कदम उठायेंगे, तो हमको भी भूख हड़ताल के अपने निश्चय पर अमल करने को बाध्य होना पड़ेगा।

शाराब जैसी बुराइयों के विरोध में यदि एक या दो आदमी भी दृढ़ निश्चय के साथ खड़े हो जाएं तो वे हवा को बदल सकते हैं। यही बताने के लिये हमने आर्यजनता के समक्ष इस घटना को रखना अपना कर्तव्य समझा, न कि किसी आत्मप्रशंसा के लिये। "बार" के विरोध में हमारा अभियान जारी है, और हमें विश्वास है कि हम सफल होंगे।

३० जुलाई १९८६



"आज घर-घर में बच्चों के मस्तिष्क में धनोपार्जन का लक्ष्य रखा जाता है। सत्ता व सम्पत्ति को पाना, सुख-सुविधा का जीवन बिताना, यही आदर्श नई पीढ़ी के सामने रखा जा रहा है। पहले तो यह सिखाया जाता था कि 'सेवा में मातृभूमि के तन-मन निसार हो।' तब 'सादा-जीवन उच्च-विचार' – यही हमारा जीवन-आदर्श था।

इन्हीं आदर्शों से प्रेरित गुरुकुल का यह ब्रह्मचारी, स्नातक बनने से पूर्व हैदराबाद सत्याग्रह की आग में कूद पड़ा। कहाँ महेन्द्रगढ़ का पिछड़ा क्षेत्र, और कहाँ सुदूर दक्षिण में निज़ाम राज्य। क्षितीश के कानों ने अत्याचारों से त्रस्त भाइयों का करुण क्रन्दन सुना, तो उसका हृदय तड़प उठा। सत्याग्रह के प्रथम जर्थे के लिए इस किशोर ने अपना नाम दे दिया।

एक सामान्य दुकानदार का बेटा बलिदान की भट्टी में पड़कर कुन्दन बनकर निकला। सत्याग्रह के पश्चात् उसकी वाणी की धूम मच गई। देश भर के आयसमाजों में उनकी माँग होने लगी। प्रचार-क्षेत्र से वे पत्रकार-जगत् में आए। यहाँ भी खूब चमके।"

—प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु'
अबोहर, पंजाब

सुभाषित

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जिसे हम बुद्धि कहते हैं उसके पास ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो मन की सारी परतों को तोड़कर उन गहरे बिन्दुओं तक उतर सके, जहां जीवन का मूल स्रोत बहता है और जहां से जीवन संचालित होता है। बुद्धि व्यक्तित्व का बहुत छोटा सा हिस्सा है, अतः किसी भी बात को बुद्धि से ग्रहण करने का अर्थ यह नहीं है कि उसे हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व और प्राणों ने भी अपना लिया है। बुद्धि एक पहरेदार की तरह है जो अपने भीतरी स्वामी के आदेश पर ही सब कुछ करती है। अर्थात् करने का हिस्सा अलग है और समझने का अलग। जिसके हाथ में करने की शक्ति नहीं है, वह समझने नहीं आता और जिसके हाथ में करने की कोई शक्ति नहीं वह समझने आता है। अर्थात् इन दोनों के बीच कभी मेल नहीं होता। इस प्रकार हमारा घर दो टुकड़ों में बंटा हुआ है।

आर्यसमाज बुद्धिजीवी सम्मेलन

मूल रूप से आर्यसमाज एक आन्दोलन है, पर साथ ही एक संस्था भी है। आन्दोलनों में समय के अनुसार कभी प्रबल आवेग आता है, तो कभी प्रबल उद्वेग भी। आवेग से उत्थान होता है और उद्वेग से पतन। संस्था के साथ भी यही बात है। पर क्योंकि संस्था किसी संगठन से जुड़ी होती है, इसलिए संगठनों के उतार-चढ़ाव के साथ संस्था में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। यह आम शिकायत है कि आर्यसमाज के आन्दोलन में उसके प्रारम्भिक दिनों में जो ऊष्मा थी, वह अब दिखाई नहीं देती।

यह सत्य है कि गत सवा सौ वर्षों में आन्दोलन और संस्था के रूप में आर्यसमाज का जितना विस्तार हुआ है, वह चमत्कारपूर्ण है। शायद इतना विस्तार अन्य किसी संस्था का नहीं हुआ। आर्यसमाज के साथ ही जन्मे ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज समय के साथ जिस तरह क्षीण से क्षीणतर होते चले गए हैं, वैसे ही आर्यसमाज दिनानुदिन पीन से पीनतर होता चला गया है। वैसे आवश्यकता से अधिक पीनता (मोटापा) स्वयं एक बीमारी का लक्षण माना जाता है। अभी आर्यसमाज इतनी पीनता को प्राप्त तो नहीं हुआ कि उसे वजन घटाने की सलाह दी जाए। फिर भी, इतना तो स्पष्ट दीखता है कि ज्यों-ज्यों उसके विस्तार की मात्रा बढ़ती गई है, त्यों-त्यों उसकी गुणवत्ता में कमी आती गई है।

पर 'क्वांटिटी' बढ़ने के साथ 'क्वालिटी' में हास हो, यह कोई आवश्यक नियम नहीं है। हां, उसके लिए कदम-कदम पर 'क्वालिटी कंट्रोल' की व्यवस्था करनी

पड़ती है। तभी बाजार में साख कायम रहती है। क्वालिटी में कभी आ जाने पर अधिक दिनों तक साख कायम नहीं रह सकती।

यहां इस बात की ओर भी संकेत कर देना आवश्यक है कि कइयों को, खासतौर से बुजुर्गों को अतीत हमेशा अच्छा लगता है। वे सदा भूतकाल के ही गीत गाते रहते हैं। 'हमारे जमाने में तो यों होता था'—से शुरू करके वे जो शेरखी बघारना शुरू करते हैं तो वह कभी समाप्त होने में नहीं आती। वे अपने जमाने की प्रशंसा के बहाने आत्मप्रशंसा कर रहे होते हैं, और उसी खुशफ़हमी में शेष जीवन गुज़ार देते हैं। उक्त मनोवृत्ति व्यक्ति के जराजीर्ण और कार्यक्षीण होने की सबसे बड़ी कसौटी है। इसलिए व्यक्तियों द्वारा की गई वर्तमान की आलोचना को क्षम्य समझना चाहिए। 'वृद्धास्ते न विचारणीय-चरिताः।'

पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हम वर्तमान की प्रशंसा कर—करके आत्मविभोर होते रहें और अपनी दुर्बलताओं पर भी नाज़ करते रहें। किसी चीज का विस्तार उसके सही होने की कसौटी नहीं है। यदि विस्तार को ही सही होने की कसौटी माना जाए, तो धूम्रपान, मद्यपान, ड्रग्स—सेवन और भ्रष्टाचार तथा अनाचार को भी सही ठहराया जा सकता है। वास्तव में कोई चीज़ पुरानी होने से भली नहीं हो जाती, और कोई चीज नई होने से बुरी नहीं हो जाती। महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है—

पुराणमित्येव न साधु सर्व न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद भजन्ते मूढः पर-प्रत्यय-नेयबुद्धिः ॥

पुरानी या नई हो जाने मात्र को भली और बुरी की पहचान मानना गलत है। बुद्धिमान लोग तो स्वयं परीक्षा करके ही भली—बुरी का फैसला करते हैं, दूसरों के कथनानुसार अपनी अकल को चलाने वाले तो निरे मूढ़ होते हैं।

इसी स्थान पर स्वतंत्र—चेता बुद्धिजीवियों की आवश्यकता होती है—अर्थात् क्वालिटी—कंट्रोल में निपुण व्यक्तियों की। जो संस्थाएं जनता में अपनी साख कायम करना चाहती हैं, उनके लिए यह आवश्यक है। मृत—प्राय उद्योगों की तरह मृत—प्राय संस्थाएं भी क्वालिटी—कंट्रोल की परवाह नहीं करतीं। परन्तु आर्यसमाज तो एक जीती—जागती संस्था है, जीती—जागती ही नहीं, देश को जिलाने और जगाने वाली भी। वह यदि हाथ पर हाथ धर के बैठी रहे और यथास्थिति में ही आत्मतोष अनुभव करती रहे, तो उसे भी जीवितों की कोटि से निकालकर मुर्दों की कोटि में रखना होगा।

समय के साथ स्थितियां बदलती हैं, तो नई—नई समस्याएं भी पैदा होती हैं। सिद्धान्त अलग चीज़ है, व्यवहार अलग चीज़ है। यदि सिद्धान्तों को केवल शास्त्रों तक ही सीमित रखना है, उन पर आचरण नहीं करना, तो कोई समस्या नहीं।

सिद्धान्त तो आपके आचरण के बिना भी सुरक्षित रहेंगे। प्रश्न यही है कि उन्हें क्रियान्वित कैसे किया जाए। यहीं मतभेद प्रारम्भ होते हैं। कुछ व्यावहारिक दृष्टि से उन सिद्धान्तों पर समझौता करना चाहते हैं, कुछ नहीं चाहते। जो समझौता नहीं करना चाहते, वे टूट सकते हैं, ज़्युक नहीं सकते। पर ऐसे लोग केवल आदर्शों का ढोल पीटते रह जाते हैं, उन्हें क्रियान्वित करके लोकप्रिय बनाने की चिन्ता नहीं करते। जो लोक को भी साथ लेकर चलना चाहते हैं, वे एक सीमा तक ज़ुकने में बुराई नहीं समझते। इससे विवाद तो जन्म लेंगे ही। पर उन विवादों को आपसी संवाद से सुलझाना और जनता का सही मार्गदर्शन करना ही बुद्धिजीवियों का असली काम है।

यह कहा जाता है कि बुद्धिजीवी कभी एकमत नहीं होते—‘मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना’—परन्तु मति और मत भिन्न होने पर भी यदि समाज—हित और रचनात्मकता को ही मुख्य लक्ष्य मानकर चला जाए, तो कुहरा छंटता है, रोशनी मिलती है और समाज पुनः नये वेग और आवेग से आगे बढ़ता है।

हम आर्यसमाज बुद्धिजीवी सम्मेलन से यही आशा करते हैं।

१ अक्टूबर १९८६



“जहाँ तक दार्शनिक विचारधारा का सम्बन्ध है, आर्यसमाज ‘त्रैतवाद’ अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति — इन तीन सनातन सत्ताओं को स्वीकार करता है। वैज्ञानिक ‘प्रकृति’ से आगे नहीं बढ़ते, बौद्ध तथा जैन ‘जीवात्मा’ से आगे नहीं बढ़ते, वेदान्ती ‘ब्रह्मा’ के सिवा किसी और की सत्ता स्वीकार नहीं करते। अथ च, ईसाई और मुसलमान जीव और प्रकृति को भी ईश्वर की ही रचना मानते हैं। आर्यसमाज इन सबसे भिन्न, ईश्वर, जीव और प्रकृति — इन तीनों को अनादि मानता है। यह आर्यसमाज का ऐसा बुनियादी सिद्धान्त है, जिससे अन्य सब मतवादियों का विरोध होते हुए भी एक तरह से उन सबका इसमें समन्वय हो जाता है। केवल प्रकृतिवादी, केवल जीववादी, या केवल ईश्वरवादी का दृष्टिकोण एकांगी है, और उनकी यह एकांगिता सृष्टि—तत्त्व की युक्ति—युक्त व्याख्या करने में समर्थ नहीं है, जबकि आर्यसमाज का त्रैतवाद समस्या का परिपूर्ण समाधान उपस्थित करता है।”

—‘चयनिका’, पृष्ठ ६१—६२

सुभाषित

ये जाते व्यसने निराकुलधियः संपत्सु नाभ्युन्ता:
प्राप्ते नैव पराङ्मुखः प्रणयिनि प्राणोपयोगैरापि।
हीमन्तः स्वगुण-प्रकाशनविधावन्यस्तुतौ पण्डिताः
ते भूमण्डल-मण्डनैक-तिलकाः सन्तः कियन्तो जनाः? ॥

जो संकट के समय कभी व्याकुल—चित्त नहीं होते, सम्पत्ति होने पर गर्व नहीं करते, स्नेहीजनों से मिलने पर कभी पराङ्मुख नहीं होते और प्राण—प्रण से उनकी सहायता करते हैं, अपने गुणों का प्रकाश करते हुए जो शरमाते हैं किन्तु दूसरों की प्रशंसा करने में सदा उदार होते हैं, भूमण्डल को शोभित करने वालों में श्रेष्ठ ऐसे सन्त कितने लोग होते हैं!

राजर्षि से ब्रह्मर्षि

वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों वैदिक मंत्रद्रष्टा ऋषि हैं। वेदों का अध्ययन करने वाले विद्वान् जानते हैं कि विभिन्न सूक्तों के ऊपर जो देवताओं और ऋषियों के नाम दिये गये हैं वे निरर्थक नहीं हैं। देवता यदि अपने शब्दार्थ के द्वारा उस सूक्त में वर्णित विषय के द्योतक हैं तो ऋषि उन मंत्रों पर विशेष विचार करके उनका प्रकाश और प्रचार करने वाले व्यक्ति हैं। कहने को हमने ‘व्यक्ति’ कह दिया, परन्तु वे हमारी बाहरी और आन्तरिक वृत्तियां भी हो सकती हैं। साथ ही, वसिष्ठ और विश्वामित्र ये दोनों शब्द वेदों में प्राण के अर्थ में भी प्रयुक्त हुए हैं।

पौराणिक आख्यान के अनुसार वसिष्ठ ब्रह्मर्षि थे और विश्वामित्र राजर्षि। दोनों ही अपनी—अपनी विद्याओं के पण्डित और कदाचित् महत्त्वाकांक्षा की दृष्टि से परस्पर प्रतिद्वन्द्वी भी। विश्वामित्र के मन में आया—धिं बलं क्षत्रिय बलं, ब्रह्म-तेजो बलम्। अर्थात् क्षात्र—बल को धिक्कार है, क्योंकि असली बल तो ब्रह्म तेज में ही है। विश्वामित्र के अपने जन्मजात संस्कार क्षत्रिय वर्ण के थे, परन्तु ब्रह्म—तेज की साधना के द्वारा वे अपने जन्मजात संस्कारों को मिटाना चाहते थे। क्षत्रिय यदि रजोगुण—प्रधान होता है, तो ब्राह्मण सतोगुण—प्रधान। रजोगुण से ऊपर उठकर सतोगुण की साधना ऐसे ही है जैसे किसी पर्वत के शिखर का आरोहण। पर्वत के शिखर पर चढ़ने के लिए कदम—कदम पर हाँफना पड़ता है, सिर और वक्षरथल में पीड़ा का अनुभव होता है और पांव जवाब देने लगते हैं। उससे भी अधिक कठिनाइयां ब्राह्मणत्व की साधना में आती है क्योंकि उसमें अपने ही

मन के राग-द्वेष से जूझना पड़ता है। अपने जन्मजात संस्कारों से छूटना आसान थोड़े ही है।

ऋषि विश्वामित्र क्षत्र विद्या में पारंगत, वीरता और कर्मठता में उनका सानी नहीं, नव—नव रचना में कुशल। ब्राह्मणत्व की साधना के लिए उन्होंने कठिन तपस्या की। पर उनके मन से अपनी विद्या का अभिमान और ऋषि वसिष्ठ के प्रति द्वेष का भाव नहीं निकल सका। इसलिए वसिष्ठ ऋषि उनको कभी महिर्ष के संबोधन से संबोधित करने को तैयार नहीं हुए। तपस्या के साथ ऋषि विश्वामित्र का क्रोध भी बढ़ता गया और अन्त में एक दिन उन्होंने छुरी लेकर वसिष्ठ का प्राणान्त करने की सोची। वसिष्ठ ऋषि की कुटिया के बाहर एक झाड़ी के पीछे छिप कर बैठ गये—इस ताक में कि ब्राह्ममुहूर्त की बेला में जब वसिष्ठ ऋषि नित्यकर्म से निवृत्त होने के लिए अपनी कुटिया से बाहर निकलेंगे तभी मैं उन पर वार करके उनका अन्त कर दूंगा।

चांदनी रात थी। पूर्ण चन्द्र की आभा आसमान में छायी थी। उस चांदनी से प्रभावित होकर अरुंधती ने अपने पति वसिष्ठ से कहा—“देखो कितनी सुन्दर चांदनी है!” वसिष्ठ ऋषि ने कहा—“हाँ! जैसे ऋषि विश्वामित्र की तपस्या का धवल यश चारों तरफ बरस रहा है।” झाड़ी की ओट में छिपे हुए ऋषि विश्वामित्र के कानों में जब अपने प्रति वसिष्ठ ऋषि का यह मनोभाव पहुंचा तो उन्हें अपने से ग्लानि हुई और एक बार फिर मुख से निकला—‘धिग् बलं क्षत्र बलं, ब्रह्म तेजो बलं बलम् और वे झाड़ी की ओट से निकलकर वसिष्ठ ऋषि की पर्ण कुटी के द्वार पर पहुंचे। वसिष्ठ ऋषि ने उनको देखते ही कहा—“आओ ब्रह्मर्षि विश्वामित्र। इतनी रात में कैसे कष्ट किया?” ऋषि विश्वामित्र ने अपनी छुरी उनके चरणों के पास रख दी। वसिष्ठ ऋषि सब मामला समझ गये और उन्होंने उठकर विश्वामित्र को गले लगा लिया। ऋषि विश्वामित्र की साधना पूरी हो गई।

श्री पं० शिवकुमार जी शास्त्री की तपस्या को भी हम ऋषि विश्वामित्र की तरह राजर्षि से ब्रह्मर्षि की साधना कह सकते हैं। ठाकुर वंश में जन्म लेने के कारण उनके सारे संस्कार रजोगुण प्रधान थे, परन्तु उन्होंने सतोगुण की साधना करते—करते अपने पाण्डित्य, अपने तपत्याग, अपनी निरभिमानिता और रागद्वेष—विहीन अजात—शत्रुता के कारण गुण—कर्म-स्वभाव से उत्तमोत्तम ब्राह्मणों को भी मात कर दिया। बीच में दस वर्ष का राजयोग भी आया और वे संसद सदस्य भी रहे, परन्तु ब्राह्मणत्व के पथिक को वह रास नहीं आयी। अपने जन्म काल से ही जिस साधना—पथ पर उन्होंने अपने पिता के आदर्शों के अनुरूप चलने का व्रत लिया था उसी का यह परिणाम है कि आर्य समाज में जब भी कभी आदर्श उपदेशक और पण्डित का नाम लिया जाता था तो उन्हीं का नाम सबकी जुबान पर आता

था। वे अपने जन्मजात संस्कारों को इतनी दूर छोड़ आये थे कि अधिकांश आर्य जनता उनके ठाकुर वंश में जन्म लेने की बात से अपरिचित ही रही।

उत्तर प्रदेश के गंगातटवर्ती कुछ उन विशिष्ट स्थानों के—जिनको प्रायः ऋषि दयानन्द के उपदेश—श्रवण का और उनके साक्षात्कार का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था, ठाकुर समुदाय के ब्रह्मतेज की साधना के पथ पर चलने का भी एक ऐतिहासिक कारण है। हो सकता है कि यह हमारी केवल कल्पना ही हो। परन्तु हमें ऐसा लगता है कि कर्णवास के राजा रावकर्णसिंह ने जब ऋषि दयानन्द द्वारा वैष्णव मत के खण्डन से क्रुद्ध होकर उन पर तलवार से वार किया था, और ऋषि ने उनके हाथ से तलवार छीनकर उसके दो टुकड़े कर दिये थे—इस एक घटना ने ही उस इलाके के समस्त ठाकुरों को इतना मर्माहत कर दिया कि वे अपने गुरु का यह अपमान न सह सके, जैसे प्रायशिंचत्त—स्वरूप झुंड के झुंड आर्य समाज की शरण में आ गये और ब्राह्मणत्व की साधना में लग गये। आज भी जितनी आर्य समाजी संस्थाएं और गुरुकुल उत्तर प्रदेश के इन जिलों में हैं उतने अन्य किसी प्रदेश की एक पूरी पट्टी में नहीं होंगे। आर्य समाज के जितने उपदेशक और भजनोपदेशक अलीगढ़, बदांगू, एटा, बुलन्दशहर, बरेली आदि जिलों ने दिये हैं उतने किसी अन्य प्रदेश ने नहीं। आश्चर्य की बात यह है कि ये सब के सब ठाकुर हैं। नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं, परन्तु आर्य समाज के जितने धुरन्धर प्रचारक इस प्रदेश ने दिये, वह अनुकरणीय है।

श्री पं० शिवकुमार शास्त्री भी उसी परम्परा में थे जो अपने जीवन के द्वारा ब्राह्मणत्व की साधना के पथ में एक नया कीर्तिमान स्थापित कर गये।

उनके ७५वें जन्म दिवस (१५ अक्टूबर) पर हमारा शतशत नमन!

१५ अक्टूबर १९८६



सामाजिक विचारधारा

“वैदिक धर्म ने मानव के व्यक्तिगत विकास के लिए जहाँ जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया है, वहाँ सामाजिक जीवन के विकास के लिए उसे चार वर्णों में विभक्त किया है। यदि एक वाक्य में कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि ‘वर्ण और आश्रम’ ही वैदिक समाज का मुख्य आधार है। परन्तु आधुनिक हिन्दू समाज में वर्ण और आश्रम के नाम पर जैसी अव्यवस्था फैली हुई है, आर्यसमाज उसका समर्थक नहीं है।”

—‘चयनिका’, पृष्ठ ६२

सुभाषित

यदि अग्नि और खड़ग की धार पर चलने वाले दस पागल आर्य भी निकल आएं तो राजा और प्रजा दोनों को होश में ला सकते हैं। भगवान् ! आर्यसमाजियों की आंखें न जाने कब खुलेंगी?

आर्यों ! सेवक बनने का प्रयत्न करो, क्योंकि लीडरों की अपेक्षा आर्य-जाति को सेवकों की बहुत अधिक आवश्यकता है। जब कभी आपका पैर डगमगाने लगे तो राम के सेवक हनुमान् का स्मरण कर लिया करो।

— स्वामी श्रद्धानन्द

‘हम’ के हमराही स्वामी श्रद्धानन्द

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन का यदि कोई केन्द्रबिन्दु था तो वह थी केवल श्रद्धा। चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करते हुए उन्होंने स्वयं ही कहा था—“श्रद्धा से प्रेरित होकर ही आज के इस जीवन को मैंने पूरा किया है। श्रद्धा मेरे जीवन की आराध्या देवी है। अब भी श्रद्धा से प्रेरित होकर ही मैं सन्यास आश्रम में प्रवेश कर रहा हूं। इसलिए इस यज्ञकुण्ड की अग्नि को साक्षी कर मैं अपना नाम “श्रद्धानन्द” रखता हूं जिससे अगला सब जीवन भी श्रद्धामय बनाने में सफल हो सकूं।”

उनके स्वभाव में जो उदारता थी वही उदारता अन्त में श्रद्धा में परिवर्तित हो गई। असल में उदारता और श्रद्धा एक सिक्के के दो पहलू नहीं, बल्कि एक ही पहलू के दो हिस्से हैं। श्रद्धा का अर्थ है कि कुछ चीजों के प्रति ऐसी अगाध निष्ठा कि उसे संसार के प्रलोभन और किसी भी प्रकार का भय डिगा न सके। परन्तु अगाध निष्ठा के उन कठिपय सूत्रों को छोड़कर अन्य चीजों के प्रति उदारता होने पर ही वह निष्ठा सम्भव है। इसका अर्थ यह भी है कि श्रद्धा के जो सूत्र हैं, उनके प्रति आग्रह और जो श्रद्धा के सूत्र नहीं हैं, उनके प्रति अनाग्रह। यह अनाग्रह और उदारता पर्यायवाची हैं। सत्याग्रह का अर्थ सत्य के प्रति आग्रह है, तो उसका एक प्रच्छन्न अर्थ असत्य के प्रति आक्रोश भी है। उदारता का इससे भिन्न अर्थ करने पर वह बेपैदी का लोटा बनकर रह जायेगी।

श्रद्धा और उदारता का जैसा परिपाक स्वामी श्रद्धानन्द में हुआ था वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। कई बार उनकी श्रद्धा को गलत समझा गया, तो कई बार उनकी उदारता को भी गलत समझा गया। परन्तु वे विचलित नहीं हुए। यदि

उनमें श्रद्धा न होती तो वे गुरुकुल—शिक्षा—प्रणाली का पुनरुद्धार न कर पाते, और यदि उदारता न होती तो वे इतने लोकप्रिय नेता न बन पाते। प्रायः लोग उनके जीवन के किसी एक पहलू को लेकर उन पर एकांगी होने का आरोप लगाते हैं, और कभी—कभी उनके स्वभाव की उग्रता के कारण कुछ लोग उनको संकीर्ण और साम्प्रदायिक भी कहने में संकोच नहीं करते। परन्तु सच बात तो यह है कि जिस तरह परमात्मा दयालु भी हैं और न्यायकारी भी हैं, उसी तरह स्वामी श्रद्धानन्द में जहां इन्साफ के लिए आग्रह था वहां उनका हृदय करुणा से ओत—प्रोत दयालुता का संवाहक भी था। कभी—कभी लोग परमात्मा पर भी तो यही आक्षेप करते हैं कि परमात्मा न्यायकारी और दयालु दोनों एक साथ नहीं हो सकता। यदि न्याय करेगा तो दया नहीं होगी, और दया करेगा तो न्याय नहीं होगा। वे दया और न्याय का वास्तविक अर्थ नहीं समझते। वे नहीं जानते कि परमात्मा का न्याय ही उसकी दया है। परमात्मा हर एक को अपने—अपने कर्म के अनुसार फल देता है। इसलिए दुष्कर्म का फल कभी अच्छा नहीं हो सकता, और सुकर्म का फल कभी बुरा नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों परमात्मा के न्याय के द्योतक हैं। कोई बड़े से बड़ा अवतार या पैगम्बर भी परमात्मा के इस न्याय से न स्वयं बच सकता है, और न अपने किसी अनुयायी को बचा सकता है। क्या परमात्मा की यह दया कम है कि व्यक्ति को उसके दुष्कर्मों का दण्ड देकर उसे भविष्य में सुपथ पर चलने की सत्प्रेरणा देता है?

हमने स्वामी श्रद्धानन्द को “हम” का हमराही कहा है। स्वामी श्रद्धानन्द वह व्यक्ति थे जिन्होंने ‘हम’ की व्याख्या करते हुए कहा था—“ह” का अर्थ है हिन्दू और “म” का अर्थ है मुसलमान। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों के सहयोग से बना ‘हम’ शब्द भारत के निवासियों की एकता का सूचक है, विरोध का नहीं। खिलाफत आन्दोलन के दिनों में “हम” शब्द की उक्त व्याख्या का जितना प्रचार हुआ, उसका श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को प्राप्त है तो वह केवल स्वामी श्रद्धानन्द को। जरा उस घटना की कल्पना करिये, जब स्वामी श्रद्धानन्द को स्वयं मुसलमान उनके निवास स्थान से बुलाकर ले जाते हैं, जामा मस्जिद के मिम्बर पर खड़ा करते हैं और स्वामी श्रद्धानन्द मस्जिद में खड़े होकर वेद—मंत्र के उच्चारण से अपना उपदेश प्रारम्भ करते हैं। उसके बाद फिर फतेहपुरी की मस्जिद में भी यही घटना दोहराई जाती है। क्या संसार के इतिहास में यह अनोखी घटना नहीं है?

इसके अलावा हम एक और घटना का उल्लेख करना चाहते हैं कि टर्की के कमालपाशा ने जब अपने देश में विजय प्राप्त की, और खलीफा को वहां से भगा दिया तो दिल्ली की मस्जिदों में दिवाली मनाई गई। पर आपको आश्चर्य होगा कि मस्जिदों के अलावा उसी रात एक और स्थान पर भी दिवाली मनाई गई और वह

स्थान था नये बाजार का सार्वदेशिक सभा भवन, जो उस समय स्वामी श्रद्धानन्द का निवास था। किसी उच्च-पदरथ आर्य नेता ने स्वामी श्रद्धानन्द जी से कहा था कि यह आप क्या कर रहे हैं, तब स्वामी श्रद्धानन्द ने स्पष्ट कहा था कि हमारा इस्लाम से कोई द्वेष नहीं है। कमालपाशा ने जो कुछ किया है अपने राष्ट्र के खातिर किया है, और यह टक्की की राष्ट्रीयता की विजय है, इसलिए हमको भी खुशी मनानी चाहिए।

स्वामी श्रद्धानन्द के न्याय-परायण हृदय की भी एक घटना सुन लीजिए। जब शुद्धि-आन्दोलन के दिनों में स्थान-स्थान पर उपद्रव होने शुरू हुए, तब तुष्टीकरण के हामी कांग्रेसी नेताओं ने दिल्ली में एक हिन्दू-मुस्लिम-एकता-कांग्रेस बुलाई जिसमें अधिकांश राष्ट्रीय नेता एकत्रित हुए और देश के प्रमुख इन दोनों सम्प्रदायों के परस्पर मनोमालिन्य को दूर करने के उपायों की चर्चा करने लगे। मुस्लिम नेताओं ने स्वामी श्रद्धानन्द की ओर उंगली उठाई कि यही व्यक्ति है जिसने हिन्दू मुस्लिम एकता में पलीता लगाया है। स्वामी श्रद्धानन्द ने भरी सभा में खड़े होकर यह घोषणा की कि यदि मेरे मुसलमान भाई अपनी तबलीग बन्द कर दें तो मैं भी शुद्धि-आन्दोलन को वापस लेने को तैयार हूं। तब मौलाना शौकत अली ने कहा कि वाह, इस्लाम तो आलमगीर मज़हब है, हम तबलीग कैसे रोक सकते हैं? इस पर स्वामी श्रद्धानन्द ने भी सिंह-गर्जना करते हुए कहा कि यदि आप तबलीग नहीं रोक सकते तो मैं शुद्धि-आन्दोलन भी नहीं रोक सकता, क्योंकि वैदिक-धर्म भी सार्वभौम धर्म है। बस यहीं पर एकता-कानफ्रेंस समाप्त हो गई, और पता लग गया कि कौन कितना इन्साफ़-पसन्द है।

स्वामी श्रद्धानन्द जहां अत्यन्त उदार हृदय थे वहां अन्याय के प्रति सदा असहिष्णु भी थे। यही बात उनके जीवन को अन्य नेताओं से अलग करती है।

नई सरकार के लिए तात्कालिक चुनौती

नई केन्द्रीय सरकार के सामने जो चुनौतियां हैं, उनकी संख्या थोड़ी नहीं है। एक तरह से उसे नट की तरह पतली सी रस्सी पर अपनी कलाबाजी दिखानी पड़ेगी। इस समय हम केवल दो तात्कालिक चुनौतियों की चर्चा करना चाहते हैं।

पहली चुनौती है—कश्मीर। वहां जिस तरह रिथिति दिन पर दिन गंभीर होती जा रही है, उससे प्रतिक्षण यह आशंका होती है कि अब यह शीत-युद्ध न जाने कब गर्म-युद्ध में बदल जाय। कश्मीर की सीमा पर पाकिस्तानी सेना का युद्धाभ्यास पूरे जोर पर है। सन् १९६५ में कश्मीर की जिन सीमान्तर्वर्ती चोटियों पर हमारी सेना ने भारी कुर्बानी करके विजय प्राप्त की थी, उन चोटियों को ताशकन्द समझौते में श्री लाल बहादुर शास्त्री दबाव में आकर गवां बैठे। यह दबाव ही उनकी जान का गाहक बन गया। अब वे चोटियां पाकिस्तान के हाथ में हैं, इसलिए कश्मीर

के भावी युद्ध में पाकिस्तान भारत की अपेक्षा सुविधाजनक स्थिति में रहेगा। राज्य सरकार की शिथिलता और पाक-प्रशिक्षित उग्रवादियों की प्रतिदिन बढ़ती हिंसा के कारण घाटी की मुस्लिम जनता में भी भारत-विरोधी लहर उफान पर है। गृहमंत्री ने अपनी बेटी को छुड़ाने के लिए पांच भयंकर आतंकवादियों को छोड़ने की शर्त मानकर पितृ-प्रेम का परिचय भले ही दिया हो, परन्तु गृहमंत्री के नाते अपने कर्तव्य-पालन का परिचय नहीं दिया, क्योंकि इससे आतंकवादियों का हौसला और बढ़ गया। इसके साथ ही पंजाब में प्रसिद्ध आतंकवादी ही चुनाव में जीतकर आ गये हैं। इसलिए यदि भावी युद्ध हुआ तो पाकिस्तान को पंजाब और कश्मीर से पूर्ण सहयोग मिलने की संभावना है। पाकिस्तान को ठण्डा युद्ध गर्म करने की दृष्टि से इससे अधिक अनुकूल अवसर और कब मिलेगा?

दूसरी चुनौती आरक्षण-विरोधी आन्दोलन की है। सरकार अपनी जिद पर अड़ी है, और वह आरक्षण की अवधि १० वर्ष और बढ़ाना चाह रही है। परन्तु जनता का उससे सहमत होना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह आरक्षण केवल जन्म-जाति के आधार पर है। यदि आर्थिक आधार पर होता तो किसी को आपत्ति नहीं होती। यह आरक्षण-नीति हिन्दुओं के ही वर्गों में पारस्परिक फूट का कारण बनेगी, इसलिए इसको बदलना होगा।

२४ दिसम्बर १९८६



“पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों को दूसरे दर्जे का नागरिक माना जाता है। उन्हें न नए पूजा-स्थल बनाने का अधिकार है और न ही पुराने पूजास्थलों की मरम्मत का। पाकिस्तान में हजारों मन्दिर और गुरुद्वारे अपवित्र कर दिये गए हैं। वहाँ अल्पसंख्यकों को शरीयत के अनुसार मुसलमानों के साथ बराबरी के आधार पर रहने का अधिकार नहीं है। दासों से भी गई-गुजरी स्थिति से बचने के लिए बहुत-से अल्पसंख्यक धीरे-धीरे मुसलमान बनते जा रहे हैं।”

अन्य इस्लामी देशों में हालत इससे भी बुरी है। वहाँ हिन्दू न तो अपना मन्दिर बना सकते हैं, न अपने घर और दुकान में किसी देवता की तस्वीर रख सकते हैं; न किसी मृतक का दाह-संस्कार कर सकते हैं, और न कोई अपनी धार्मिक पुस्तक पढ़ सकते हैं। इन इस्लामी देशों में किसी मुसलमान को ईसाई, बौद्ध या हिन्दू बनने की अनुमति नहीं है। ऐसा करना दण्डनीय अपराध है। परन्तु वहाँ रहने वाले गैर-मुसलमानों को मुसलमान बनाने का पूरा प्रयत्न किया जाता है। एक बार मुसलमान बन जाने के पश्चात् यदि वह वापस अपने पुराने धर्म में जाना चाहे तो उस के लिए मृत्युदण्ड का विधान है।”

—‘चयनिका’, पृष्ठ २०६

आर्य-सत्याग्रह की अर्ध-शताब्दी

सन् १९३६ में आर्य समाज ने हैदराबाद में सत्याग्रह करके न केवल निजाम रियासत के इतिहास में, और न केवल आर्य समाज के इतिहास में, बल्कि भारतवर्ष के इतिहास में एक ऐसा स्वर्णिम अध्याय जोड़ा था जिसकी चमक चिरकाल तक देश की जनता को अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करते हुए बड़े से बड़ा बलिदान करने को प्रेरणा देती रहेगी। निजाम रियासत के भारत में विलय के पश्चात् जब कुछ नेता लोग उस समय के गृहमंत्री लौहपुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल के पास उनको बधाई देने के लिए पहुंचे, तब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि 'बधाई मुझे क्या देते हो, बधाई दो आर्य समाज को, जिसने अब से १० वर्ष पहले ही इस मुस्लिम रियासत के भारत में विलय का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।' अगर आर्य समाज न होता तो केवल तीन दिन में भारत की सेना इतनी आसानी से देश की सबसे बड़ी अंग्रेज़—परस्त और मुस्लिम—परस्त उस रियासत को घुटने टेकने पर मजबूर न कर सकती।

आर्य समाज को हैदराबाद में सत्याग्रह क्यों करना पड़ा था? उसका विस्तार से उल्लेख करने की आवश्यकता यहां नहीं है। संक्षेप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उस समय निजाम रियासत के बादशाह उस्मान अली ने अपने आपको हज़रत मोहम्मद साहब के शवशुर का वंशज बताते हुए तुर्की के खलीफा की तरह समस्त भारतवर्ष का खलीफा बनने का स्वप्न देखा था। इसी की तैयारी में उसने तुर्की के खलीफा की बेटी से, जिसका नाम नीलोफ़र था, अपने शहजादे 'प्रिन्स ऑफ बरार' की शादी की थी, और अन्य मुस्लिम देशों से सम्बन्ध जोड़ थे। वह सारे दक्षिण भारत को अपनी रियासत में शामिल करना चाहता था। उसने सारी रियासत के इस्लामीकरण के लिए दमन—चक्र प्रारम्भ कर दिया था। उर्दू वहां की राजभाषा बना दी गई थी, जब कि रियासत की ६० फीसदी आबादी गैर—उर्दू—भाषी थी। तुर्की टोपी तथा अचकन को रियासत की सरकारी पोशाक बनाया गया था, जो सरकार की सेवा करने वाले हर एक हिन्दू को भी पहननी पड़ती थी। तेलुगु, कन्नड़ और मराठी भाषाओं के स्थान पर पहली कक्षा से स्नातकोत्तर कक्षा तक शिक्षा का माध्यम उर्दू को बना दिया गया था।

इन अत्याचारों को चुपचाप सहन करना आर्य समाज के लिए सम्भव नहीं था, इसलिए उसने अहिंसात्मक ढंग से प्रतिरोध करना प्रारम्भ किया। उस समय कितनी यज्ञशालाएं तोड़ी गई, कितने हिन्दू मन्दिर ध्वस्त किये गए, कितने स्कूल बन्द किये गए, कितने ओ३३ के झण्डे और हनुमान—पताकायें फाड़ कर पांव—तले कुचली गई—इनकी गिनती नहीं। अन्त में विवश होकर आर्य समाज की सर्व—शिरोमणि सार्वदेशिक सभा ने शोलापुर में आर्य—महासम्मेलन बुलाया और अखिल भारतीय स्तर पर इन अत्याचारों के निवारण के लिए सत्याग्रह की घोषणा की गई। फिर क्या था! सीमाप्रान्त पेशावर तक से लेकर सारे उत्तर, दक्षिण तथा पूर्व और पश्चिम भारत में जहां भी आर्य समाज का कार्य था, वहां—वहां से उत्साही आर्यवीर हैदराबाद में सत्याग्रह करने के लिए चल पड़े। इन सत्याग्रहियों में केवल युवक ही नहीं, किशोरावस्था के छात्रों और प्रौढ़ अवस्था के बुजुर्गों की संख्या भी कम नहीं थी। लगभग २८ हजार सत्याग्रही पहुंचे और उन्होंने रियासत की सारी जेलें भर दी। सारा देश और सब कांग्रेसी नेता स्तब्ध होकर देखते रहे कि सत्याग्रह का परिणाम क्या निकलता है, क्योंकि सबका यही सोचना था कि आर्य समाज ने हिमालय से टक्कर ली है।

परन्तु अन्त में जब आर्य सत्याग्रही विजय प्राप्त करके निकले तो सारे देश ने राहत की सांस ली, और आर्य—जाति का स्वाभिमान तथा शौर्य नई आभा से दीप्त हो उठे। उसी आभा ने उस कट्टर इस्लामी रियासत के भारत में विलय का मार्ग प्रशस्त किया।

अब उस सत्याग्रह को हुए ५० वर्ष हो चुके। अतः आर्य—जाति में पुनः बलिदानी भावना तथा अन्याय और अत्याचार के प्रति वैसी ही उमंग एवं वैसा ही जोश भरने के लिए सत्याग्रह का अर्द्धशताब्दी महोत्सव मनाने का आन्दोलन हम सन् १९८६ के प्रारम्भ से ही करते आ रहे थे। अनेक स्थानों पर उस सत्याग्रह की स्मृति में छोटे—मोटे समारोह हुए भी, परन्तु जब तक स्वयं हैदराबाद में ही अखिल भारतीय स्तर पर विशाल समारोह न होता, तब तक कुछ बात न बनती। हमें प्रसन्नता है कि अन्त में वह आन्दोलन रंग लाया और अब हैदराबाद में विशाल पैमाने पर आर्य सत्याग्रह अर्द्ध—शताब्दी समारोह सकूशल सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन को सभी दृष्टियों से सफल कहने को जी चाहता है, परन्तु कुछ बातों की ओर समस्त आर्य जनता का ध्यान खींचना भी हम आवश्यक समझते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उस सत्याग्रह की समाप्ति के पश्चात् सन् ४० के दशक में हमने सिकन्द्राबाद और सुल्तान बाज़ार (हैदराबाद) के वार्षिकोत्सवों पर जैसा

विराट् जन—समुदाय देखा था, वह स्वतन्त्रता—प्राप्ति के बाद के वर्षों में फिर कभी दिखाई नहीं दिया। हमें वह प्रसंग भी स्मरण है, जब सन् १९४२ में सुलतान बाजार के वार्षिकोत्सव पर भाषण देने के कारण पांच वर्ष के लिए हमारा हैदराबाद—प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया था। हैदराबाद के पुराने लोग अभी तक उस भाषण को स्मरण करते हैं। हमें यह भी याद है कि सन् १९४७ में स्वतन्त्रता—प्राप्ति से ढाई— तीन महीने पूर्व ही निषेध—अवधि समाप्त होने पर जब हमको दोबारा हैदराबाद के वार्षिकोत्सव पर बुलाया गया तो समस्त युवा—वर्ग जैसे आगामी घटना—चक्र के लिए सन्दर्भ हो चुका था, और युवकों का जोश ठाठें मार रहा था। १५ अगस्त १९४७ को भारत के स्वतन्त्र होते ही, अंग्रेजों द्वारा रियासतों को दिये गये अधिकार के कारण, निजाम ने भी अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। तभी सरदार पटेल को पुलिस ऐक्शन के लिए मजबूर होना पड़ा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस सैनिक कार्यवाही में भी कदम—कदम पर आर्य—वीरों का ही अद्भुत सहयोग था। इसीलिए इतनी जल्दी सफलता मिल गई। अन्यथा निजाम ने तो करोड़ों रुपये के हथियार मंगवाकर और रजाकारों की सेना तैयार करके छापामार युद्ध की पूरी तैयारी कर रखी थी।

उन बातों को अब दोहराने से कोई फ़ायदा नहीं। भाव केवल इतना है कि सन् १९८६ का अन्त होते होते २६, ३० और ३१ दिसम्बर को जो यह अर्द्ध—शताब्दी समारोह हुआ, उसमें उपस्थित अपार भीड़ ने फिर आर्य समाज के पुराने ओजस्वी रूप के दर्शन करा दिये। पर जिस बात की ओर आर्य—जनता का ध्यान खींचना है, वह यह नहीं है। वह है इस समारोह के ठीक एक सप्ताह पूर्व आन्ध्र प्रदेश प्रतिनिधि सभा का सत्याग्रह—निमित्त किया गया एक अन्य अर्ध—शताब्दी समारोह। उस सभा की ओर से भी हमको निमन्त्रित किया गया था, उसके अधिकारी हमें बुलाने दिल्ली आये भी थे, हमसे बिना पूछे ही उन्होंने पोस्टर और कार्यक्रम में हमारा नाम भी छाप रखा था। एक ही शहर में एक ही उद्देश्य को लेकर आर्य समाज की ओर से केवल एक सप्ताह के अन्तर से दो समारोहों के आयोजन की तुक हमारी समझ में नहीं आई। पहला समारोह निश्चय ही दूसरे समारोह को विफल करने के लिए किया जा रहा था।

हमने अपनी ओर से पूरी कोशिश की कि दो समारोहों के स्थान पर एक ही समारोह हो और उसमें सभी मिलकर सहयोग करें। परन्तु आर्य समाज में आजकल जिस प्रकार की प्रवृत्तियां पनप रही हैं, उन्हें देखते हुए नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुनता? इस समय सर्वत्र यही स्थिति है। सर्वत्र प्रायः दो—दो

प्रतिनिधि—सभाएं हैं और स्थानीय नेता बंटे हुए हैं। किसी एक गुट को सार्वदेशिक सभा का समर्थन प्राप्त है, और दूसरा गुट उससे वंचित है। हमें तो लगता है कि इस समय राजनीति में जिस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ प्रबल हो गए हैं, उसी प्रकार आर्य समाज में भी सिद्धांतों के बजाय कुछ व्यक्तित्वों के अहम् का संघर्ष हावी है। जिस तरह राजनीति में व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए माफ़िया—गिरोहों की शरण ली जाती है, कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति को आर्य समाज के लिए हितकारी किसी भी तरह नहीं समझा जा सकता।

हम हमेशा संगठन को महत्त्व देते आए हैं और सदा यह प्रयत्न करते रहे हैं कि आम आर्य जनता की दृष्टि में ही, और गैर-आर्य समाजी जनता की दृष्टि में भी हम उपहास के पात्र न बनें। सबसे अधिक बुरी बात यह है कि अपने आपको आन्ध्र प्रदेश प्रतिनिधि सभा के वालीवारिस कहने वाले लोगों ने इस समारोह का न केवल बहिष्कार किया; प्रत्युत बड़े पैमाने पर घृणित पोस्टरबाजी करके सारे हैदराबाद शहर की जनता में आर्य समाज के प्रति वित्तुष्णा पैदा कर दी, जिसका परिणाम यह हुआ कि इतने बड़े समारोह की व्यवस्था में स्थानीय जनता का सर्वथा अभाव हृदय को बार—बार सालता था। जरा कल्पना करिये कि आन्ध्र सभा ने भी इसी सम्मेलन को पूरा सहयोग दिया होता तो आर्य समाज के संगठन की कैसी जबरदस्त धाक होती, और सम्मेलन को चार चांद न लग जाते !

पाठकों को स्मरण होगा कि सन् १९८३ में, ऋषि—निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उन्हीं तारीखों में जब तीन—तीन आयोजनों की तैयारी हो रही थी — दो अजमेर में और एक दिल्ली में — तब हमने अजमेर में ही, एक ही सम्मेलन करने के पक्ष में अपनी आवाज उठाई थी। उस प्रसंग में व्यक्तिगत रूप से हमको कितना ही लांछित और अपमानित क्यों न होना पड़ा हो, परन्तु अन्त में आर्य जनता के अन्तःकरण में विद्यमान एकता और संगठन की भावना ने विजय पाई, और अजमेर में एक ही ऐसा विशाल समारोह हुआ जिससे सारी आर्य जनता गदगद हो उठी।

हम इस समय भी ऐसी ही एकता का दृश्य देखना चाहते थे। परन्तु हमें सफलता नहीं मिली। दोनों पक्षों की ओर से लगाये जाने वाले आरोप—प्रत्यारोपों में कौन सही और कौन गलत है, इस विवाद में हम नहीं पड़ना चाहते। हम तो केवल एक ही बात कहना चाहते हैं कि महर्षि दयानन्द ने जो आर्य समाज का दसवां नियम बनाया है : 'व्यक्तिगत हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें और सामाजिक सर्वहितकारी नियम में सब परतन्त्र रहें'। इसका हमको हमेशा ध्यान रखना चाहिए। संगठन तभी तक जीवित रहते हैं, जब तक उसके घटक अपने निजी

स्वार्थों से ऊपर उठकर सामाजिक हित की बात सोचते हैं। अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की खातिर सामाजिक हितों की बलि देना किसी भी व्यक्ति के लिए शोभाजनक नहीं है।

इस अर्द्धशताब्दी समारोह का जो मुख्य उद्देश्य था – आर्य-सत्याग्रहियों का स्वागत और सम्मान, अन्त में व्यवस्थापकों की अदूरदर्शिता और अधिक राजनैतिक नेताओं की उपस्थिति के कारण वही उद्देश्य पूरा न हो सका। दूरस्थ प्रदेशों से भारी संख्या में आये, बूढ़े—बूढ़े आर्य सत्याग्रही अपने हृदय में अदम्य उत्साह, किन्तु झोली में निराशा भरकर लौटे। यह भी शोभनीय बात नहीं रही।

१४ जनवरी १९६०



“उस दरी का बार्डर आम के पत्तों जैसे गहरे हरे रंग का और जमीन हरी धास जैसे हल्के हरे रंग की थी। चारों कोनों पर चार गुलाबी फूल थे जिनकी पत्तियां जामुनी रंग की थीं और बीच का केसर पीले रंग का था। बीचों बीच इसी रंग और डिजाइन का एक बड़ा सारा फूल था। बीच बीच में इन्हीं दो रंगों की छोटी छोटी बुंदकियां थीं। अपने श्रम का यह सुन्दर फल देखकर उस दरी के प्रति मेरे मन में भी मोह उत्पन्न हो गया। मैंने जेलर से अनुमति लेकर उस पर अपने नाम ‘क्षितीशचन्द्र’ का अंग्रेजी में संक्षिप्त रूप ‘K.C.’ काढ़ लिया था और जिस सन् में वह बनाई गई थी वह सन् १९३६ भी कदाई में ही बुन लिया था। दरी पूरी हो जाने पर मैंने अपना नाम लिख कर जेल के माल खाने में जमा करवा दी थी और जेलर से कह दिया था कि जेल से छूटने के बाद मैं इस दरी को खरीद लूंगा।

कारागृह से छूटने के बाद घर पहुंच कर मैंने जेलर को इस विषय में चिट्ठी लिखी। जेलर ने वी.पी. पार्सल करके दरी मुझे भेज दी।

उस समय वी.पी. छुड़वाई के केवल १० रु. लगे थे (जो अब लगभग ५० साल बाद उससे कई गुना बैठते)। जब मैंने दरी बुनी थी, तब मैं कैदी था, और जब खरीदी, तब गुलाम भारत का एक आजाद (कारामुक्त) नागरिक था।

जेल की वह सुन्दर कलापूर्ण श्रमार्जित यादगार लगभग बीस वर्ष तक मेरी सेवा करती रही। उसके बाद वह भी आदमी की तरह, काल की सहज गति को प्राप्त हो गई।

निजाम की जेल का नाम ज़बान पर आते ही मुझे वह जेल की चिरसंगिनी दरी याद आए बिना नहीं रहती है।”

—‘निजाम की जेल में’, पृष्ठ ६२

सुभाषित

सृजति तावदशेष-गुणाकरं
पुरुषरत्नमलंकरणं भूवः।
तदपि तत्क्षण-भंगि करोति चेत्
अहह कष्टमपंडितता विधेः॥

— भर्तुहरि

हाय रे! विद्याता भी कितना नासमझ हैं! पहले तो अनेक गुणों की खान, पृथ्यी के अलंकार—भूत किसी पुरुष—रत्न का सृजन करता है, फिर तत्काल ही (अल्पवय में ही) उसे उठा लेता है। (यह निरा बचपना नहीं तो क्या है कि खिलौना हाथ में आया नहीं कि उसे तोड़कर फेंक दिया! कोई समझदार तो ऐसा करेगा नहीं)

मुनिवर पं. गुरुदत्त विद्यार्थी

आर्य समाज का यह सौभाग्य रहा है कि उसे शुरू से ही ऐसे त्यागी—तपस्वी और ध्येयनिष्ठ विद्वानों का सहयोग प्राप्त होता रहा कि उसका यश दिगन्त—व्यापी होने में कोई भी अवरोध समर्थ न हो सका। वैदिक सिद्धान्तों की सत्यता तो इसमें प्रमुख कारण है ही, पर सत्य भी तब तक निर्वीर्य ही रहता है, जब तक उस पर आचरण करने वाले दृढ़ब्रती व्यक्ति न हों। ऋषि दयानन्द की अगाध विद्वत्ता, आजन्म ब्रह्मचर्य—व्रत—पूर्वक कठोर तपस्या, उत्कट देशानुराग और वेदों को उनके परम्परा—प्राप्त सिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए अहर्निश प्रचार—व्याख्यान और ग्रन्थलेखन आदि ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में राष्ट्र के नवजागरण में जो योग दिया, वह अद्वितीय था। उसी ने तत्कालीन बुद्धिजीवियों को आर्यवर्त के प्राचीन गौरव से और भारतीय अस्मिता के गर्व से भर दिया था। इसी कारण आर्य समाज को वैसे महनीय नेताओं का कभी अभाव नहीं रहा।

ऋषिवर दयानन्द की उत्तरवर्ती पीढ़ी में पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एक अनन्य प्रतिभापुरुष थे। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि ऋषि दयानन्द ने वेदों को सब सत्य विद्याओं का स्रोत बताने की जो घोषणा की थी, आधुनिक ज्ञान—विज्ञान की परिभाषा में उसकी व्याख्या करने का भार पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने लिया था। ‘वैदिक संज्ञा विज्ञान’ नामक अपने निबन्ध के पुस्तकाकार छपने पर उन्होंने उसका समर्पण—वाक्य इस प्रकार लिखा था—‘अपने समय के अद्वितीय विद्वान् स्वामी

दयानन्द सरस्वती की स्मृति में उनके एक सच्चे तथा श्रद्धावान् प्रशंसक गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा समर्पित।'

सन् १८६४ में उनका जन्म हुआ और सन् १८८० में, अर्थात् १६ वर्ष की आयु में वे आर्य समाज के सदस्य बने। प्रतिभाशाली इतने कि इण्टर तक पहुंचते—पहुंचते सब प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिकों के ग्रन्थ पढ़ डाले। विज्ञान के भक्त इतने कि जहाँ भी विज्ञान सम्बन्धी कोई ग्रन्थ दिखाता, उस पर टूट पड़ते।

इन पाश्चात्य दार्शनिकों और पाश्चात्य विज्ञान के ग्रन्थों ने उनके मन में ईश्वर के अस्तित्व के प्रति सन्देह का अंकुर पैदा कर दिया। उन्होंने अपने तर्क—जाल से सब साथियों को परास्त कर दिया पर आर्य समाज के प्रति निष्ठा की और उनकी विद्या की धाक इतनी कि जब ऋषि दयानन्द के अजमेर में रोगशय्या पर होने का समाचार मिला, तो लाहौर के समस्त आर्यसमाजियों ने आर्यसमाज के उपप्रधान लाला जीवनदास के साथ केवल बीस वर्ष के इस युवक को अपना प्रति—निधि बनाकर भेजा। वहाँ जाकर जिस भक्तिभाव से इस युवक ने ऋषि की सेवा शुश्रूषा की, ऋषि के अन्त—समय का मार्मिक दृश्य स्वयं अपनी आंखों से देखा और असह्य पीड़ा के क्षणों में भी ऋषि के मुख से उद्धरित ये शब्द सुने—“हे प्रभु! तेरी इच्छा पूर्ण हो। तूने अच्छी लीला की।” तो उसके बाद पाश्चात्य विज्ञान और दर्शन ने जो सन्देह का कोहरा मन में पैदा कर दिया था, वह ऐसा छंट गया, ऐसा छंट गया, कि फिर कभी गुरुदत्त के मुख से किसी ने सन्देह की कोई बात नहीं सुनी। अजमेर से लौटकर जो गुरुदत्त आया, वह सर्वथा बदला हुआ गुरुदत्त था—ऋषि का और वेद का एकनिष्ठ पक्का भक्त। उसके बाद उसने अपना सारा समय ऋषि की स्मृति को सार्थक करने और वैदिक ज्ञान की गरिमा को समस्त बुद्धि—जीवियों तक पहुंचाने में लगा दिया।

जब ऋषि की स्मृति को चिरस्थायी बनाने का प्रसंग आया, तो डॉ. ए. वी. आन्दोलन की बागड़ोर भी इसी प्रतिभा—पुरुष ने संभाली। अपनी अद्भुत विद्वत्ता और अनुपम वाग्मिता से उस आन्दोलन को सफल ही नहीं बनाया, उसके लिए सबसे पहला दान भी स्वयं अपनी ओर से दिया। इस आदर्शवादी युवक ने जब अपने मन में बसे ऋषि के सपनों के सिद्धिमार्ग में बाधा पाई, तो उन सपनों को चरितार्थ करने के लिए गुरुकुल—शिक्षा—प्रणाली का आन्दोलन चलाया, जिसकी बागड़ोर आगे चलकर महात्मा मुंशीराम ने संभाली।

आदर्श अपने स्थान पर है, व्यवहार अपने स्थान पर। इनका परस्पर संघर्ष भी शाश्वत है। पर इससे न आदर्श की महत्ता कम होती है, न व्यवहार की। इसीलिए मध्यम मार्ग अपनाया जाता है। फिर कभी आदर्शवाद हावी हो जाता है, तो कालान्तर में उसे भी व्यवहारवाद के सम्मुख झुकना पड़ता है। यह संघर्ष केवल

विचारधारा का ही नहीं, जीवन का भी है। हरेक व्यक्ति को इस द्वैध से गुजरना पड़ता है।

हिमालय के शिखर तक विरले ही पहुंच पाते हैं। कितने लोग बीच में ही खेत रहते हैं। पर इससे कभी आरोहियों की कमी तो नहीं होती। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी अपने २५ वर्ष के जीवन में ही शिखर पर आरोहण के मार्ग पर ऐसे पद-चिन्ह छोड़ गए हैं जो आरोहणार्थियों को सदा आकर्षित करते रहेंगे और यौवन को चुनौती देते रहेंगे। उनको दिवंगत हुए भले ही सौ वर्ष पूरे हो रहे हों, पर उन पद-चिन्हों की प्रेरणा तो सदा ताज़ा है।

१८ मार्च १९६०



“भारत के मुस्लिम नेता जहाँ कांग्रेस की आड़ में तुर्की के खलीफा और अरब देशों के सहयोग से भारत में इस्लामी सत्तनत का सपना ले रहे थे, वहां इसके लिए पूरी तरह से जाल भी बिछा रहे थे। अधिकांश कांग्रेसी नेता एक साल में स्वराज्य प्राप्त करने के दिवास्वप्न में इतने मदहोश थे कि उन्हें वह जाल दिखता नहीं था। उन्होंने दिनों कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से मौलाना मुहम्मद अली ने अफगानिस्तान के बादशाह अमानुल्ला को एक गुप्त पत्र भेजकर भारत पर आक्रमण करने को उकसाया और लिखा कि तुम्हारे आक्रमण करते ही तुर्की का खलीफा भी भारत पर आक्रमण करेगा, जर्मनी और रूस तुम्हारा साथ देंगे और इस तरह हम हिन्दुस्तान को अंग्रेजों के पंजे से छुड़ा लेंगे, भारत में इस्लामी हुकूमत कायम हो जाएगी।

यह गुप्त पत्र किसी तरह स्वामी श्रद्धानन्द के हाथ लग गया। उन्होंने अपने अंग्रेजी अखबार ‘लिबरेटर’ में उसे छाप दिया। उससे कांग्रेसी हलकों में तहलका मच गया। सब पूछने लगे – “यह क्या?” मौलाना मुहम्मद अली ने मासूमियत से जवाब दिया—“मैंने तो महात्मा गांधी को दिखाकर यह पत्र अमानुल्ला को भेजा था और गांधी जी ने अपने हाथ से उसमें संशोधन किए थे।” सब कांग्रेसी नेता स्तब्ध, पर सब चुप, किसी की बोलने की हिम्मत नहीं हुई।

—‘निजाम की जेल में’, पृष्ठ ६६

दयानन्द को पहचानो

कौन था और कैसा था दयानन्द? इसका चित्रण अनेक लोगों ने अनेक प्रकार से किया है। उससे ऋषि दयानन्द के विभिन्न आयामों का यत्किञ्चिंत् आभास हो जाता है। हरेक की अपनी दृष्टि है और अपनी समझ है। एक चित्रण ऐनीबेसेंट ने भी किया है, वही हम यहां दे रहे हैं—

“लाखों पुरुषों में जो अकेला वीर पुरुष होकर जन्मा, जिसने बरसाती घास—फूस और मच्छरों की तरह फैले हुए मनुष्य नामक प्राणी की मूर्खता की चरम सीमा के प्रमाणस्वरूप नाना—मत मतान्तरों को अपनी जवांमर्दी से सर्वग्रासी ज्वाला की तरह विध्वस्त किया, जिसने मृत्याय हिन्दुओं को अपने जादुई स्पर्श से जीवित कर दिया, और उन्हें नोच—नोच कर खाने वाले गीदड़ों को एक ही हुंकार से भगा दिया, जिसने कीड़े—मकोड़ों की तरह रेंग—रेंग कर चलने और पलने वाले बच्चों के लिए पुण्यधाम गुरुकुलों और अनाथालयों का निर्माण किया, जिसने निर्दयी हिन्दुओं की आंखों के सामने डकारती गर्दन कटाती, निरीह गायों के आंसुओं को अग्नि—नेत्रों से पिया, जिसने अबलाओं—विधवाओं के सिरों पर अपनी अमर शान्तिदायक छाया की, जिसने अछूतों—दलितों के चिर—असाध्य दुखते घावों पर संजीवनी मरहम लगाई, जो करोड़ों स्वैराचारियों में एकाकी अखण्ड ब्रह्मचारी था, जिसके प्रकांड पांडित्य ने नवद्वीप और काशी की पुरानी प्रसिद्ध इमारतों की नींव की ईंटों को हिला दिया, जिसकी आवाज से सारी पृथ्वी गूंज उठी, जिसने युग के देवता की तरह निरन्तर वेदों का उद्धार किया, जो प्रत्येक हिन्दू के द्वार पर ऊंची आवाज से पुकारता रहा—‘उठो, जागो, खड़े हो जाओ, भय को भगा दो, और सच्चे सिपाही की तरह जिसने रणक्षेत्र के बीच आहत होकर अपने प्राणों का विसर्जन किया—वह था ऋषि दयानन्द।”

उसी ऐनी बेसेंट ने उन्नीसवीं सदी में भारत की जो दयनीय दशा देखी थी, उससे मर्माहत होकर लिखा था—“लोग आस्तिकता और नास्तिकता के बीच डावांडोल हो रहे थे, अच्छी भौतिकता की बाढ़ से राष्ट्र का जीवन विशृंखलित हो गया था, अंग्रेज़ी पढ़े—लिखे लोग हक्सले, मिल और स्पैन्सर के विचारों के अनुयायी बनते जा रहे थे, उन्हें अपने प्राचीन वाड्मय का कोई ज्ञान नहीं था, वे अपने अतीत से घृणा करने

लगे थे, और अपने भविष्य के सम्बन्ध में उन्हें कोई आशा और विश्वास नहीं था, वे अच्छे होकर यूरोप के तौर—तरीकों की नकल कर रहे थे, और अपने कला—कौशल तथा शिल्प को भूलकर अंग्रेजी वस्तुओं और सामान से अपने घरों को सजाने में गर्व अनुभव कर रहे थे, लोगों में राष्ट्रीय अस्मिता का लेश भी नहीं था, राष्ट्रीय जीवन को गति देने वाली कहीं कोई चेष्टा दिखाई नहीं देती थी, भारतीय राष्ट्र के हृदय में कोई धड़कन शेष है भी या नहीं, यह सन्देह होता था।"

उक्त दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि ऋषि दयानन्द ने किन परिस्थितियों में आर्यसमाज की स्थापना की और आर्यसमाज के माध्यम से उन्होंने क्या कुछ करने की कोशिश की। असल में तो ऋषि दयानन्द के कर्तृत्व को, जिसमें आर्यसमाज का कर्तृत्व भी समाहित है, थोड़े से शब्दों में व्याख्यायित करना सम्भव नहीं है। क्योंकि जिस क्षेत्र की भी चर्चा करने लगोगे उसी क्षेत्र के अन्य व्यक्तियों के कर्तृत्व से तुलना करने से बच नहीं पाओगे, और वैसा करना इस सीमित स्थान में सम्भव नहीं। किसी रेखा को बड़ा कह देने मात्र से वह बड़ी नहीं हो जाती, जब तक उसकी तुलना में अन्य रेखाओं की लघुता दिग्दर्शित न की जाए।

ऋषि का कर्तृत्व कितना ही बहुमुखी क्यों न हो, पर वह जिस एक केन्द्रीय विचारधारा से अनुप्राणित है, वह सर्वथा सुस्पष्ट है और उसके लिए अधिक वाञ्जाल की आवश्यकता नहीं। उसके लिए अत्यन्त संक्षेप से कहा जा सकता है कि वह केन्द्रीय विचार है—मानव कल्याण के लिए सत्य का प्रकाश। इस एक कसौटी को पकड़कर चलने पर उनके समस्त कर्तृत्व का बीजमंत्र मिल जाता है। इसीलिए उन्होंने आर्यसमाज का एक नियम ही बना दिया—“सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सदा तत्पर रहना चाहिए।” इसलिए उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ का नाम रखा—‘सत्यार्थ प्रकाश’—अर्थात् सत्यार्थ का प्रकाश करने वाला। मानव—समाज के लिए उपयोगी कोई विषय इस ग्रन्थ में उन्होंने नहीं छोड़ा। इस ग्रन्थ की यह एक और अद्भुत विशेषता भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि इसमें जहां सत्य मत का तर्क—सहित मण्डन है, वहां असत्य मतों का तर्क—पुरःसर खण्डन भी है। वास्तव में खण्डन और मण्डन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिस तरह धर्म की रक्षा के लिए अधर्म का नाश भी उतना ही आवश्यक है, उसी तरह मण्डन के लिए खण्डन भी उतना ही आवश्यक है। पर वह खण्डन भी खण्डन के लिए नहीं, केवल सत्य को उजागर करने के लिए। सत्य के प्रति आग्रह में असत्य के प्रति अनाग्रह स्वयं छिपा हुआ है, इसलिए सत्य को बुद्धिसंगत बनाने के लिए असत्य की अबुद्धिसंगतता सिद्ध करना भी उतना ही आवश्यक है।

“ऋषि दयानन्द की मनोभावना क्या थी, यह उन्हीं के शब्दों में देखिए। “सत्यार्थ प्रकाश” की भूमिका में वे लिखते हैं : “मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का प्रयोजन सत्य

अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादित करना सत्य—अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाए। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहलाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश या लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप स्थापित कर दें। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्य अर्थ का ग्रहण और मिथ्या अर्थों का परिचयाग करके सदा आनन्द में रहें। मनुष्य की आत्मा सत्यासत्य को जानने वाली है। तथापि वह अपने प्रयोजन की सिद्धि—हेतु हठ, दुराग्रह और अविद्या आदि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रंथ में ऐसी बात नहीं है और न किसी का मन दुखाना या किसी को हानि पहुंचाने का तात्पर्य है।”

ऋषि दयानन्द को जानने और परखने की यही कसौटी है। अपनों और परायों सभी के लिए यह कसौटी ऋषि दयानन्द को समझने में सहायक हो सकती है। यह कसौटी हमने नहीं, स्वयं ऋषि ने ही निर्धारित कर दी है, इसीलिए हमने अपनी ओर से कुछ कहने के बजाय उन्हीं के शब्दों को उद्धृत कर दिया है।

१ अप्रैल १९६०



ऋषि दयानन्दः राष्ट्र-चेतना का अग्नि-पुंज

“आर्यसमाज को मात्र धार्मिक संस्था कहकर, धर्म के अफीम वाले रूप द्वारा राष्ट्र-चेतना से दूर से दूर रखने का प्रयत्न करने वाले, धर्म के कर्मकाण्ड—प्रधान रूप पर निरन्तर ज़ोर देने वाले धर्म—धावजियों से पूछना चाहता हूँ कि ‘सत्यार्थप्रकाश’ के छठे समुल्लास को रखने का क्या औचित्य था, जिसमें राज्य और शासन के ही विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है? एकादश समुल्लास के अन्त में महाभारत से लेकर पृथ्वीराज—पर्यन्त राजाओं की नामावली देने की कौन सी संगति है? जीवन के अन्तिम दिनों में राजस्थान की विभिन्न रियासतों में जाकर राजाओं को वैदिक और भारतीय राजनीति की शिक्षा देने, और उनसे राजकुमारों तथा क्षत्रिय—बालाकों को शक्तिका की शिक्षा देने के लिए क्षत्रशाला खोलने का आग्रह करने की क्या तुक है? उनके स्वधर्म, स्वभाषा, स्वदेश, स्व—संस्कृति, स्वराज्य, आदि शब्दों में जो ‘स्व’ छिपा है, उसका गौरव ऋषि की राष्ट्र-चेतना में निहित है। वैसा इकट्ठा पुंजीभूत जाज्वल्यमान अग्निपुंज और कहीं दिखाई नहीं देता।”

—‘आप्त राष्ट्र-पुरुष’, पृष्ठ ३१—३२

आदर्श और व्यवहार

कभी आप माउण्ट एवरेस्ट पर चढ़े हैं? वही माउण्ट एवरेस्ट जो संसार का सबसे ऊँचा पर्वत शिखर है, और जिसका यह नाम भारत के ब्रिटिश राज्याधीन होने पर तत्कालीन अंग्रेज सर्वेयर जनरल (एवरेस्ट) के नाम पर पड़ा, जबकि ऐतिहासिक तथ्य यह है कि इस शिखर के सर्वोच्च होने की खोज उस अंग्रेज ने नहीं, बल्कि सर्वे विभाग के एक भारतीय (बंगाली) कर्मचारी ने की थी जिसका नाम राधानाथ सिंहकंदर था। परन्तु गुलामों का समस्त अनुसंधान भी उनके मालिकों के खाते में ही जमा होता है। इसी माउण्ट एवरेस्ट का असली नाम है 'सगरमाथा' (स्वर्ग का मस्तक)—जो नेपाल में आज भी प्रचलित है। इसी शिखर को तिब्बती लोग अपनी भाषा में 'चोभो लुड्मा' (हिम की अधिष्ठात्री देवी) कहते हैं, जिसकी झलक पौराणिक शिव के कथानक में उमा या पार्वती के रूप में देखी जा सकती है।

संसार के इस सर्वोच्च शिखर पर चढ़ना आसान थोड़े ही है! न जाने कितनी सदियों से अपना उन्नत मस्तक ताने यह स्वर्ग का मस्तक मानव के पुरुषार्थ को चुनौती देता रहा है। न जाने कितने लोगों ने इस शिखर पर विजय प्राप्त करने के सपने देखे हैं। और न जाने कितने साहसी लोगों ने अपने सपने को क्रियात्मक रूप देने के लिए सचमुच इस पर आरोहण का प्रयत्न किया है और प्रयत्न करते—करते मार्ग में हिम—समाधि प्राप्त की है। उन्हें बेशक सफलता नहीं मिली, पर बाद में आने वाले अन्य साहसी आरोहियों के मार्गदर्शन के लिए वे अपने जीवन की कहानियों के पद—चिन्ह तो छोड़ गये।

आखिर सन् १९५३ में पहली बार तेनसिंह और हिलेरी के रूप में मानव के चरण स्वर्ग के उस मस्तक को स्पर्श कर सके और संसार में पर्वतारोहण का एक नया अध्याय खुल गया। यह ठीक वैसा ही चमत्कार था जैसा चमत्कार आगे चलकर मानव नाम के इस दो टांग के जीव ने पहली बार चन्द्रमा के धरातल पर चंक्रमण करके प्राप्त किया था। उसके बाद उपग्रहों और अन्तरिक्ष—यात्राओं का भी एक नया अध्याय संसार के इतिहास में खुल गया। जिस तरह अब अनेक देशों के पर्वतारोहियों ने स्वर्ग के मस्तक पर खड़े होकर अपने मस्तक को स्वर्ग तक पहुंचा दिया है, उसी तरह अब चन्द्रमा के धरातल पर भी अनेक देशों के लोग चंक्रमण

कर चुके हैं। चन्द्रमा ही क्यों, अब तो मंगल और शुक्र ग्रह तक भी पहुंचने के उपक्रम जारी हैं, और 'सितारों से आगे जहां और भी हैं' की खोज में मानव निकल पड़ा है।

मानव की जिजीविषा यदि अदम्य है, तो उसकी विजिगीषा भी अदम्य है। मानव बार—बार मरता है, पर फिर बार—बार जी उठता है। मौत ने कितना ही चाहा, पर वह उसे पूरी तरह मार नहीं पाई। मौत की छाती पर पांव रखकर—'मृत्योः पदं योपयन्तः'—वह फिर—फिर जी उठा। उसी तरह जीवन में बारम्बार पराजय ने उसे हतोत्साहित करना चाहा, आगे बढ़ने से रोकना चाहा, पर उसकी विजिगीषा ने हार नहीं मानी। मानव गिरता—पड़ता, पथ पर थक कर बैठ जाता, फिर आगे बढ़ता, लहूलुहान हो जाता, पर उसने हिम्मत नहीं हारी, और अन्त में मंजिल पा ली। वह मंजिल कहां है, यह कोई नहीं जानता। कारण, ज्यों—ज्यों मंजिल दर मंजिल पार करता जाता है, त्यों—त्यों मंजिल और आगे बढ़ती जाती है। वहीं 'सितारों से आगे जहां और भी है' वाली बात।

जीवन जिजीविषा पर आधारित है, तो यौवन विजिगीषा पर। माउण्ट एवरेस्ट पर आरोहण या चन्द्रमा की यात्रा अब भी खाला जी का घर नहीं है। संकटों और कठिनाइयों में कोई कमी नहीं, पर युवक हैं कि उनकी टोलियों पर टोलियाँ निकलती चली आती हैं, और किसी भी कीमत पर वे हार मानने को तैयार नहीं। उनके सामने एक ही नारा है—

हों युवक ढूबे भले ही
किन्तु ढूबा है न यौवन।

बात आदर्श और व्यवहार की करने चले थे, पर पहुंच गये माउण्ट एवरेस्ट और चन्द्रमा की यात्रा तक। नहीं, भंग की गोली नहीं खाई है इस मसिजीवी सम्पादक ने—यह प्रिय पाठकों को विश्वास दिलाते हैं। हम आपसे पूछ रहे थे कि क्या आप माउण्ट एवरेस्ट पर चढ़े हैं? या कभी चन्द्रमा पर गए हैं? नहीं न! परन्तु क्या आपके मन में कभी ललक भी नहीं उठी कि काश! तेनसिंग के स्थान पर संसार के उस सर्वोच्च शिखर पर आरोहण करने वाले हम ही, या हम भी होते! हो सकता है, कभी यौवन के उन्नेष में आपके मन में भी ललक उठी हो, पर अपनी शक्ति की सीमाओं, बाहरी परिस्थितियों और जीवन की आटे दाल की जरूरतों ने आपके पर कतर दिये हों, और आप एक सामान्य सद्गृहस्थ बन कर अपना जीवन—यापन कर रहे हों। हां, यह भी तो जीवन का एक व्यवहारिक पहलू है। हवाओं को चीरने वाले, समुद्रों को लांघने वाले और पर्वत—शिखरों पर अपनी विजय—पताका गाढ़ने वाले जो हों, वे हों, सब

लोग नहीं हैं। उन असामान्य वीर पुरुषों को हम सामान्य सर्व—साधारण मानवों का श्रद्धा—सहित प्रणाम।

महाकवि भर्तुहरि ने चार प्रकार के मानवों का उल्लेख किया है—

एके ते पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुष-राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघन्ति ये,
ये निघन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे!॥

उत्तम कोटि के पुरुष वे होते हैं जो स्वार्थों को सर्वथा तिलांजलि देकर अहर्निश परोपकार में लगे रहते हैं। सामान्य मनुष्य वे होते हैं जो परार्थ में दत्तचित्त होते हैं, पर स्वार्थ का भी अवश्य ध्यान रखते हैं। जो अपने निजी स्वार्थ के लिए पर—हित को हानि पहुंचाते हैं—वे मनुष्यों में राक्षस के समान हैं। परन्तु जो लोग बिना किसी प्रयोजन के दूसरों को हानि पहुंचाते ही रहते हैं, ऐसे 'ऑनरेरी डिस—सर्विस' करने वालों को हम क्या कहें, यह हम भी नहीं जानते।

कहने का भाव यह है कि आदर्श पर्वतारोहण अन्तरिक्ष—यात्रा के समान है, और व्यवहार सामान्य धरातल पर पदयात्रा के समान हैं। आदर्श का अपना एक 'चार्म' है, आकर्षण है। व्यवहार जीवन जीने की एक सामान्य प्रक्रिया है। हम किसी आदर्श को लेकर ऊंचे चढ़ाना चाहते हैं, पर जब नहीं चढ़ पाते तो धरातल को ही नापना शुरू कर देते हैं। पर इससे न तो आदर्श का आकर्षण समाप्त होता है, और न ही व्यवहार की विवशता समाप्त होती है। 'आदर्श की अति' सनक की हद तक पहुंच जाती है, और व्यवहार की अति अनीति तथा भ्रष्टाचार की ओर ले जाती है। क्या आप देखते नहीं कि आचार की अति होने पर ही 'अत्याचार' बन जाता है। इसलिए समझदारी का तकाजा यही है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'—दोनों प्रकार की अतियों को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाया जोए। यही स्थितप्रज्ञता है, यही योग है, यही जीवन जीने की विधि है। पांव धरती पर रहें, दिमाग आसमान पर रहें। मन में आदर्शों की लगन हो, व्यवहार में उनको चरितार्थ करने की कुशलता हो।

कहावत है—'श्रेयसि केन तृप्यते'-कल्याण के कार्य में तृप्ति कैसी? और अधिक, और अधिक की धुन, पर व्यवहार का ध्यान नहीं रखा, तो जीवन टूट जाएगा। आदर्श को भूलकर केवल व्यवहार का ध्यान रखा, तो जीवन भटक जाएगा, पथ भ्रष्ट हो जाएगा। आर्य समाज को सदा आदर्श, और उन आदर्शों पर चलने वाले लोग प्रिय रहे हैं, पूज्य रहे हैं। इसलिए आर्यसमाज में त्यागी—तपस्ची और बलिदानी

महानुभावों की कमी नहीं रही। यदि वे त्यागी—तपस्वी—बलिदानी महापुरुष न होते, तो समाज को प्रेरणा कैसे मिलती? पर सब लोग आदर्शों की सबसे ऊँची सीढ़ी पर नहीं पहुँच सकते। कोई बिरले सबसे ऊँची सीढ़ी तक, कोई उससे निचली सीढ़ी तक, कोई और उससे भी निचली सीढ़ी तक—और इस तरह जीवन के विविध स्तरों के सोपान चलते रहते हैं।

हम स्वयं आदर्श तक नहीं पहुँच पाए, इसलिए आदर्श अवहेलना का पात्र नहीं बन जाता। और इससे आदर्श—प्राप्ति के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ने की प्रक्रिया भी समाप्त नहीं होनी चाहिए। महात्मा हंसराज अपने त्यागमय आदर्श जीवन से जहां आदर्शों की ओर आरोहण का मार्ग दिखा गये हैं, वहां यह भी दिखा गये हैं कि आदर्शों को व्यवहारिक रूप किस तरह दिया जाए।

२२ अप्रैल १९६०



“बंगला भाषा के कवि कृतिवास ने अपनी रामायण में लिखा है कि गंगा और उमा दोनों सहोदरा थीं। देवता लोग भगवान् शंकर के लिए गंगा की याचना करने उसके पिता हिमवान के यहाँ पहुँचे। माता मैना और पिता हिमवान दोनों में से कोई भी उस समय अपने निवास स्थान पर नहीं मिले। पर गंगा तो शिव जी का नाम सुनते ही अधीर ओ उठीं, और माता—पिता की प्रतीक्षा किए बिना ही देवताओं के साथ हो लीं। जब मैना और हिमवान को गंगा की इस अशिष्ट स्वेच्छाचारिता का पता लगा, तो दोनों क्रुद्ध हुए। मैना ने शाप दिया कि उसका यह पतन उसे सदा के लिए पतनोन्मुखी बनाकर जल का रूप दे दे। बिचारी गंगा निरादृता होकर कहाँ जाए? उसे ब्रह्मा के कमण्डल में शरण मिली।

क्या है यह ब्रह्मा का कमण्डल? यदि कोई कवि गोमुख के २५ किलोमीटर लम्बे ग्लेशियर को ब्रह्मा के कमण्डल की उपमा दे, तो उसकी प्रतिभा की दाद देनी होगी। ब्रह्मा का अर्थ तो है ही विस्तार। विस्तृत और महान हिमालय में, जहाँ और सैकड़ों ग्लेशियर छाए हैं, गोमुख का ग्लेशियर एक कमण्डल से अधिक थोड़े ही है!

—‘ओ मेरे राजहंस!’, पृष्ठ ६५

नव वर्षाभिनन्दनम्

वर्ष नवं शान्ति-सुख-प्रकर्ष कीर्ति च प्रीतिं गुण-गौरवाणि ।
प्रबोधमुद्योगमनामयत्वं दिशेत् समग्रे भुवने भवाय ॥

गुण-प्ररोहं शुचितानुरागं धी-धर्म-वृद्धिं पुरुषार्थ-निष्ठाम् ।
शौर्यं तपो धैर्यमनालसत्वं दिशेत् जनस्याभ्युदयाय नित्यम् ॥

मात्सर्यमुत्सार्य विहाय दैन्यं भाषादिभेदम् अवमत्य दोषम् ।
प्रान्तादि-संकीर्ण-विचारभावं संत्यज्य राष्ट्रोन्नति-कामना स्पात् ॥

देवोक्तधर्मश्रियणं शुचित्वम्, आर्यत्वभावोदय-वैभवं च ।

वर्ष नवं ज्योतिरुदारभावं दिशेत् प्रमोदं भुवनेऽभिरामम् ॥

नव-वर्ष की यह अरुण आमा विश्व को नव ज्योति दे ।
कीर्ति-प्रीति-विभूति-गौरव-सौख्य की अभिवृद्धि दे ॥

तापत्रय हर सकल जन की शान्ति का सन्देश दे ।
श्री-वृद्धि-शुचिता-शौर्य-संयम सदगुणों की वृद्धि दे ॥

राष्ट्र-उन्नति, देश-वैभव, स्नेह-हास-विलास दे ।
दीन-हीन-अनाथ-निर्धन मानवों को त्राण दे ॥

प्रान्त-धर्म-विभेद हर कर ऐक्य-भाव प्रसार हो ।
आर्य संस्कृति सम्यता का विश्व में विस्तार हो ॥

— डा० कपिलदेव द्विवेदी, कुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्यालापुर

नया वर्षः नया उत्साह

२६ दिसम्बर को अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन सम्पाद्य हो गया और उसके ५ दिन बाद ही १६६१ का नया वर्ष प्रारम्भ हो गया। यह ठीक है कि यह नया वर्ष पाश्चात्य परम्परा का है, भारतीय परम्परा का नहीं, परन्तु जिस प्रकार हमारे जीवन में, विशेष रूप से नागरिक जीवन में, हमारे चाहे—अनचाहे अनेक पाश्चात्य चीजों का समावेश हो गया है, उसी प्रकार नया वर्ष मानने—मनाने की इस परम्परा का भी समावेश हो गया है। इसलिए औपचारिकतावश हमने भी इसको नया वर्ष कह कर सम्बोधित कर दिया है।

सो इस नये वर्ष से पहले, जैसे इसकी अगवानी के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन की सफलता और सकुशल सम्पन्नता को देखकर एक बात तुरन्त

मन में आती है। 'सकुशल सम्पन्नता' शब्द का प्रयोग देख कर पाठक बिदकें नहीं, क्योंकि इन दिनों स्थान—स्थान पर उपद्रव, साम्प्रदायिकता का ज्वार और कफर्यू का जोर था। उसके कारण अनेक सुधी—जनों के मनों में महासम्मेलन की सकुशल सम्पन्नता में सचमुच सन्देह था। अनेक जनों को तो यह भी शंका थी कि कहीं ऐन आखिरी समय सम्मेलन को स्थगित करने की नौबत न आ जाए। आखिर विघ्नकर्ताओं की कमी तो देश में है नहीं, और ऐसे महानुभावों की भी कमी नहीं है जो अपनी धर्म—निरपेक्षता का ढिंढोरा पीटते हुए आर्य समाज जैसी संस्था को साम्प्रदायिकता का सरगना मानते हैं। इसलिए सम्मेलन की यह सकुशल सम्पन्नता स्वयं में एक उपलब्धि है जो आर्य समाज की छवि के सर्वथा अनुरूप है।

पर इस सकुशल और शानदार सफलता में हमें एक पहलू और भी दिखाई देता है, जिसकी ओर हम ध्यान खींचना चाहते हैं। वह पहलू यह है कि देश की स्थिति के कारण महा—सम्मेलन की सारी तैयारी जिस जल्दबाज़ी में हुई और कार्यक्रम की अन्तिम रूप—रेखा तक जिस विलम्ब से तैयार हुई, उसके कारण आर्य जनता तक सम्मेलन—सम्बन्धी सूचनाएं भी व्यवस्थित ढंग से नहीं पहुंच पाई। पर सम्मेलन में विदेशों से और स्वदेश के दूरस्थ भागों से भी आर्य—जनता ने जिस उत्साह से और जितनी भारी संख्या में उपस्थित होकर सम्मेलन को सफल बनाने में सहयोग दिया, उसे देखकर हृदय गद—गद हो गया।

और तभी यह सोच कर मन आश्वस्त हुआ कि भले ही विशाल हिन्दू समाज कितना ही सोया हुआ हो, परन्तु उसका प्रहरी — आर्य समाज अपनी ड्यूटी पर तैनात है और वह निरन्तर जाग रहा है। अनेक आर्यबन्धु आर्यसमाज की वर्तमान शिथिलता का रोना रोते हैं, परन्तु क्या इस विशाल बुद्धिजीवी आर्य जनता की निरन्तर जागरूकता की वे उपेक्षा कर सकते हैं? आर्यसमाज गुरुडम के भरोसे नहीं चलता, यहां न कोई पोप है, न ही किसी इमाम या काज़ी का कोई फतवा। यहां हुक्मनामा भी नहीं चलता, न ही किसी राजनीतिक पार्टी की तरह किराये की भीड़ इकट्ठी करने की साजिश की जाती है। यहां वंशवाद का चलन भी नहीं है और वंशवाद को कोसते—कोसते अपने वंश को आगे बढ़ाने की कूटनीति भी नहीं है। यहां विशुद्ध लोकतन्त्र है और समस्त आर्य जनता की प्रेरणा का मूल बिन्दु केवल एक है, और वह है — राष्ट्रहित की खातिर संकट की इस घड़ी में देश के सामने उपस्थित तरह—तरह की उलझनों से बचाकर देश को किस प्रकार सही मार्ग की ओर ले जाया जा सकता है। इसी भावना से इस भयंकर शीत क्रहतु में अनेक कष्ट सह कर अपना किराया खर्चकर स्वेच्छा से इतनी भारी संख्या में आर्य—बन्धु एक नई आशा, नया उत्साह, नया विश्वास और प्रेरणा लेकर विदा हुए।

यह नया उत्साह केवल सन् १९६१ के नये वर्ष के लिए ही नहीं, नये प्रारम्भ हुए पूरे दशक के लिए है, बल्कि एक कदम बढ़ कर हम कहेंगे कि पूरी आगामी इक्कीसवीं सदी के लिए है।

अन्त में महात्मा गांधी के इस वाक्य से हम नये वर्ष का स्वागत करते हैं। 'अतीत हमारा है, उसका हमारे साथ सम्बन्ध है, पर हम अतीत से बंधे हुए नहीं हैं। हम जुड़े हैं वर्तमान से। हम भविष्य के निर्माता हैं, पर भविष्य के साथ हमारा बन्धन नहीं है।'

"The past belongs to us but we do not belong to past, we belong to present. We are makers of the future, but we do not belong to future."

— Mahatma Gandhi.

६ जनवरी १९६१



"यह वेदवाद और राष्ट्रवाद ही आर्यसमाज को ऋषि दयानन्द से विरासत में मिला है। इसीलिए हम कहते हैं, आर्यसमाज की दो भुजाएं हैं— एक वेद और दूसरी राष्ट्र। इन दोनों में से एक भी भुजा को काट देंगे तो आर्यसमाज स्वरूप, अपने में स्थित नहीं रहेगा, वह पंगु हो जाएगा। वह केवल वेदवादी सम्प्रदाय बनकर रह जाएगा और तब अन्य सम्प्रदायों से उसमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। अन्य जितनी राजनैतिक संस्थाएं हैं, वे केवल राष्ट्र—राष्ट्र वित्ताती हैं; वे धर्म का नाम नहीं लेतीं; और जितनी धार्मिक संस्थाएं हैं, वे केवल अपने मज़हब या मज़हबी किताब (जैसे कुरान या बाइबल) का नाम लेती हैं, उनको राष्ट्र से कोई लेना—देना नहीं है। सब राजनैतिक पार्टियां राजनैतिक साम्प्रदायिकता से ग्रस्त हैं और धार्मिक संस्थाएं धार्मिक साम्प्रदायिकता से ग्रस्त हैं; जबकि केवल आर्यसमाज ही ऐसी संस्था है जो धार्मिक या राजनैतिक दोनों प्रकार की साम्प्रदायिकताओं से मुक्त है। इसीलिए हम आर्यसमाज को कोई पार्टी या सम्प्रदाय कहने के बजाय ऐसा संगठनात्मक आन्दोलन कहना पसन्द करते हैं, जो वेद—ज्ञान पर आधारित राष्ट्र का, केवल भारत का नहीं, प्रत्येक राष्ट्र का, निर्माण करना चाहता है।"

— 'चयनिका', पृष्ठ ७४

सुभाषित

लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च ।

एवं नरो वर्तमानः शाश्वती वर्धते समाः ॥

मनुष्य को जगत् के व्यवहार पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। धर्म और अपने हितकर उपायों पर भी विचार करते रहना चाहिए। ऐसा करने वाला मनुष्य सदा ही उन्नति करने वाला होता है।

— महाभारत

जनगणना शुरू हो गई है, सावधान !

ऋषिकल्प साहित्यमनीषी श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने जब 'वन्दे मातरम्' गीत लिखा था तो उसकी कुछ पक्षियां इस प्रकार थीं—

त्रिंशि-कोटि कंठ कल-कल निनाद कराले!
द्वित्रिंशि-कोटि भुजैर्धृत-खर-करवाले
के बोले माँ तुमि अबले,
बहुबल-धारणी, नमामि तारणीम् ।
मातरम् ! वन्दे मातरम् ॥

इस पद से यह पता लगता है कि जिस समय यह लिखा गया था, तब भारत की आबादी तीस करोड़ रही होगी। इसीलिए कवि की वाणी इस रूप में प्रस्फुटित हुई थी— "हे भारत माता तेरे तीस करोड़ पुत्र हैं जो अपने कंठ से एक साथ तेरी जय का घोष दिग्दिग्न्त में गुंजा देते हैं, और उनकी साठ करोड़ भुजाएं अपने हाथों में तेज़ तलवार लेकर तेरी रक्षा के लिए सदा सन्नद्ध हैं, फिर तुझे अबला कहने की हिम्मत कौन कर सकता है? हे बहुबल धारणी और राष्ट्र के जन-जन का उद्घार करने वाली माता! मैं तेरी वन्दना करता हूँ।"

परन्तु अब भारत की आबादी दुर्द करोड़ से कम नहीं है। फिर भी हम इस जोश के साथ भारत माता को आश्वासन देने की स्थिति में नहीं हैं और हमने मन ही मन उसको अबला स्वीकार कर लिया है। ऐसा क्यों है, क्या कभी आपने विचार किया है?

हर वर्ष भारत में ५० लाख की आबादी बढ़ जाती है, एक नया आस्ट्रेलिया जुड़ जाता है, क्योंकि वह भूभाग इतना विस्तृत होने के कारण भले ही महाद्वीप के रूप में गिना जाता हो, परन्तु उसकी जनसंख्या इससे ज्यादा नहीं है। इस ८६ करोड़ आबादी में हिन्दुओं की जनसंख्या ८५ प्रतिशत मानी जाती है।

परन्तु आज हिन्दुओं का इतना बहुमत होने के बाद भी न तो उनके कंठ की एक साथ आवाज सुनाई देती है और न ही उनकी भुजाएं भारत माता को विजय का वैसा आश्वासन दे सकती हैं। इतना भारी बहुमत और अपने ही देश में सर्वथा उपेक्षित! जितनी और छोटी—मोटी सांप्रदायिक संस्थाएं हैं, वे उचित—अनुचित अपनी सब मांगें मनवा लेती हैं। इस सम्प्रदाय—निरपेक्ष राज्य में उनको विशेषाधिकार प्राप्त हैं और विशाल हिन्दू समाज अपने जन्म—सिद्ध अधिकारों से भी वंचित है। इसका केवल एक कारण है और वह यह कि इतना अधिक बहुमत होने पर भी हिन्दू समाज असंगठित और विभाजित है, अपनी अस्मिता को भूल चुका है और स्वयं आत्म—विजय के पथ में रोड़े अटकाता है। जिस तरह कुल्हाड़ी में लकड़ी का बैंट लगे बिना जंगल के वृक्षों का सफाया नहीं हो सकता, उसी तरह अपने इस जातीय महावृक्ष के लिए हम स्वयं कुठार सिद्ध हो रहे हैं।

१० फरवरी से जनगणना शुरू हो गई है और हिन्दू समाज अभी तक सोया हुआ है। उसको यह भी पता नहीं है कि जनतंत्र में हाथ खड़ा करके मतों की गणना होती है और उसके हिसाब से ही सरकार के सब निर्णय प्रभावित होते हैं। हम देखते हैं कि हर १० वर्ष के बाद ईसाई और मुसलमानों की संख्या जिस तेज़ी के साथ बढ़ती जा रही है उसी अनुपात में हिन्दुओं की संख्या कम होती जाती है। इसका भी मुख्य कारण यही है कि विधर्मी लोग अपनी जनसंख्या बढ़ाने के लिए उचित—अनुचित सभी प्रकार के उपायों का प्रयोग करते हैं और हिन्दू समाज आंखें बन्द करके अपाहिजों की तरह तमाशा देखता रहता है।

इस समय देश विषम परिस्थितियों के जिस दौर से गुज़र रहा है— देश ही क्यों, सारा संसार ही भयंकर उखाड़—पछाड़ के चक्कर में है, यदि इस सब को देखकर भी हिन्दू समाज नहीं चेता तो वह अपने भविष्य पर स्वयं कालिख पोत देगा। इसलिए जनगणना के प्रति बहुत सावधान होने की आवश्यकता है। वह सावधानी किस प्रकार की होनी चाहिए, उसके लिए कुछ सुझाव इस प्रकार हैं—

अपना धर्म वैदिक धर्म (हिन्दू) लिखवाइये और अपनी जाति आर्य लिखवाइये। इसके अतिरिक्त धार्मिक मतभेदों के शमन के लिए और जातीय पक्षपातों को समाप्त करने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि अपनी मुख्य भाषा हिन्दी (संस्कृत) लिखवाइये। तीसरे नम्बर पर अपनी प्रांतीय भाषा लिखवा सकते हैं। भाषा—

सम्बन्धी विवादों को समाप्त करने के लिए और राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए तथा समस्त हिन्दू समाज को एकता के सूत्र में बांधने के लिए यह बहुत आवश्यक है।

इससे पहले जिन हिन्दुओं ने, खास करके पंजाब के हिन्दुओं ने, अपनी मातृभाषा पंजाबी लिखकर जो आत्मघाती कदम उठाया है, उसका कडवा फल आज देश बहुत बुरी तरह से भुगत रहा है। यदि आपने दूसरी भाषा के रूप में संस्कृत नहीं लिखवाई तो यह याद रखिए कि समस्त शिक्षा-क्षेत्र में से संस्कृत को समाप्त कर देने का मंसूबा बांधे कूटनीति-परायण राज-नेताओं के इरादे पूरे हो जायेंगे। जहां कहीं कोई एक भी हिन्दू बसता हो, उसको हिन्दू समाज की और राष्ट्र की एकता के लिए हमारे इन सुझावों पर अत्यन्त सतर्क होकर अमल करने की आवश्यकता है। कहीं ऐसा न हो कि वक्ता गुजर जाये और आप पीछे हाथ मलते रह जायें। जनगणना शुरू हो गई है, सावधान!

२४ फरवरी १९६१



“अन्य मतावलम्बियों को ‘वेद पर आधारित’ विशेषण से सम्प्रदायिकता की गन्ध आ सकती है। पर उनको यह बताने की आवश्यकता है कि वेद किसी सम्प्रदाय या वर्ग-विशेष के लिए नहीं, न ही किसी राष्ट्र-विशेष या काल-विशेष के लिए हैं; प्रत्युत वह तो ‘शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः’ कहकर मानवमात्र को अमृत-स्वरूप परमपिता परमात्मा की सन्तान मानकर एक इकाई के रूप में स्वीकार करता है। इसीलिए आर्यसमाज का वेदवाद और राष्ट्रवाद परस्पर-विरोधी नहीं, या विश्ववाद और मानववाद की अवहेलना करने वाला नहीं, बल्कि उसका मार्ग प्रशस्त करने वाला है। वह व्यष्टि से प्रारम्भ करके समष्टि तक पहुंचना चाहता है। उसके ‘कृण्वन्तो विश्वमार्यम्’ के नारे की सार्थकता भी यही है।”

किसी प्रसिद्ध मुस्लिम नेता ने कभी कहा था कि मैं यह देखकर चकित होता हूं कि आर्यसमाज की शरण में आते ही व्यक्ति राष्ट्रभक्त बन जाता है। इसमें चकित होने की कोई बात नहीं। राष्ट्रभक्ति प्रत्येक आर्यसमाजी की घुट्टी में है। यही आर्यसमाज की विशेषता है, यही उसकी अपनी अलग पहचान है।”

—‘चयनिका’, पृष्ठ ७४

सुभाषित

धन्य है तुझ को ऐ क्रषि! तूने हमें जगा दिया।
सो—सो के लुट रहे थे हम, तूने हमें बचा दिया॥
अन्धों को आंखें मिल गई, मुर्दों में जान आ गई।
जादू—सा क्या चला दिया, अमृत—सा क्या पिला दिया?
तुझ में कुछ ऐसी बात थी, स्वामीजी तेरी बात पर,
कितने शहीद हो गये, कितनों ने सिर कटा दिया!
श्रद्धा से श्रद्धानन्द ने, सीने पे खाई गोलियां।
हंस—हंस के हंसराज ने, तन मन व धन लुटा दिया॥
अपने लहू से लेखराम, तेरी कहानी लिख गया।
तूने ही लाला लाजपत, शेरे—बबर बना दिया॥
तेरे दीवाने जिस घड़ी, दक्षिण दिशा को चल दिये,
हैरत में लोग रह गये, दुनिया का दिल हिला दिया॥

— कुंवर सुखलाल आर्यमुसाफिर

अपने लहू से लेखराम ...

“संसार की उन्नति का इतिहास सदा ही महापुरुषों के रक्त से तैयार होता रहता है। जिन शूरवीरों ने धर्म के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया, यहां तक कि अपने प्यारे सिद्धान्तों की रक्षा के लिए, अपने प्रिय प्राणों को न्योछावर करने में भी संकोच नहीं किया, उनकी धर्म—परायणता ने, उनके विचारों ने संसार के लिये विद्युत् से भी बढ़कर कार्य किया है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी समुदाय के जीवन का अनुमान उसके त्याग, तप और बलिदान के आधार पर ही किया जा सकता है। प्रत्येक जीवित समाज और समुदाय अपने जीवन का प्रमाण इस प्रकार के बलिदानों के रूप में ही प्रस्तुत किया करता है। किसी भी सत्य के प्रचार को अपने विरोधियों के हाथों जितनी अधिक विपत्तियां सहन करनी पड़ती हैं, दूसरे शब्दों में, किसी भी सत्य—प्रचारक ने अपने प्रचारित सत्य के पक्ष में जितनी भी अधिक प्रबल शहादत प्रस्तुत की है, उसके सत्य का उतना ही अधिक प्रसार संसार में हुआ है। अतः धन्य है वह समुदाय और वह समाज जिसके प्रवर्तकों और प्रचारकों ने अपने प्रिय प्राणों का बलिदान करके और धर्म के मार्ग में अपना खून बहाकर अपनी और अपने सिद्धान्तों की सत्यता को प्रकट किया है।”

'कुलियात आर्य मुसाफिर' में अमर हुतात्मा पं० लेखराम की संक्षिप्त जीवनी लिखते हुए उसकी भूमिका के रूप में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने जो कुछ लिखा है, वही हमने ऊपर उद्धृत किया है। उन्होंने यह सन् १६०३ में लिखा था। तब यह कौन जानता था कि यही सन्दर्भ श्रद्धानन्द जी के सम्बन्ध में भी एक दिन सत्य सिद्ध होने वाला है। वास्तविकता तो यह है कि आर्य समाज की स्थापना के पश्चात् ऋषि दयानन्द के सम्पर्क में जो विशिष्ट लोग आए, वे आर्य समाज के मिशन के पीछे इतने दीवाने बने कि उन्होंने आर्य समाज के प्रचार के लिए अपना तन-मन-धन अपेक्षित करने में कसर नहीं छोड़ी। आर्य समाज की वह पहली पीढ़ी ऋषि दयानन्द-रूपी सूर्य से सीधा प्रकाश ग्रहण करके जैसे स्वतः प्रकाशित हो उठी। उसी का यह परिणाम है कि आगे आने वाली पीढ़ियां उसी आलोक से निरन्तर प्रकाशमान होती रहीं और प्रेरणा ग्रहण करती रहीं। आर्य समाज की नींव में जैसे बलिदानियों का रक्त पड़ा है, उसी से आर्य समाज का यह पौधा धीरे-धीरे विशाल वटवृक्ष के रूप में अपनी छाया से विश्व को आप्यातित करने में संलग्न है। अन्य संस्थाएं आर्य समाज के इस सौभाग्य पर ईर्ष्या कर सकती हैं और स्वयं आर्य समाज को तो अपनी इस महान् गौरवपूर्ण विरासत पर गर्व करने का उचित अधिकार है।

अमर शहीद पं० लेखराम आर्य समाज की उसी विरासत के एक अन्यतम जनक हैं। सन् १८५८ में उनका जन्म हुआ और सन् १८६७ ई० में, केवल ३६ वर्ष की आयु में उन्होंने शहादत का जाम पी लिया। उनके बलिदान को सही परिप्रेक्ष्य में समझे बिना उसका उचित मूल्यांकन नहीं हो पायेगा।

अपने पूर्व-जन्म के कर्मों के फलस्वरूप लेखराम बचपन से ही कुछ ऐसी निष्ठा के धनी सिद्ध हुए कि उनका जीवन लाखों लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया। पहले वे वेदान्ती बने, फिर जपुजी का पाठ करते-करते सिखों की ओर आकर्षित हुए। जब एक धर्मात्मा बुजुर्ग सिख को अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति से नित्य प्रातः गीता का पाठ करते देखा तो ये भी गीता का पाठ करने लगे, पर मन की उथल-पुथल शांत नहीं हुई। सीमा-प्रान्त में अपने चारों ओर मुस्लिम-बाहुल्य वातावरण से प्रभावित होकर उनके मन में भी एकेश्वरवाद के कारण इस्लाम के प्रति रुझान बढ़ गया। उन्हीं दिनों मुश्शी अलखधारी की, जिहें स्वयं ऋषि दयानन्द ने इस्लाम से वैदिक धर्म में परावर्तित किया था, एक किताब हाथ लगी जिसमें पढ़ा कि धार्मिक मामलों में किसी को कोई शंका हो तो वह ऋषि दयानन्द के पास जाकर उसका समाधान कर सकता है। फिर क्या था वे पुलिस की सर्विस से एक मास का अवकाश लेकर ऋषि दयानन्द के दर्शन करने के लिए अजमेर पहुंच गये। ऋषि दयानन्द से

वार्तालाप करने के पश्चात् मन की न केवल शंकाओं का समाधान हो गया, बल्कि वैदिक धर्म के शुभ्र प्रकाश से देवीप्यमान अन्तःकरण का घना कोहरा सदा के लिए विलीन हो गया।

उसके बाद तो मन में आर्य समाज की ऐसी धुन सवार हुई कि पेशावर में आर्य समाज की स्थापना की और आर्य समाज के प्रचार में पूरी तत्परता से जुट गये। लेखराम के मन में जिस प्रकार परिवर्तन हुआ, कुछ—कुछ वैसी ही लहर अन्य शिक्षित मुस्लिम—युवा वर्ग में पैदा होने लगी। ज्यों—ज्यों आर्य समाज के मन्त्रव्यों का परिचय होता गया, त्यों—त्यों उनकी बुद्धि—संगतता उन युवकों के दिलों को छूती गई और उनका झुकाव आर्य समाज की ओर होने लगा। अंग्रेज़ शासकों को यह प्रवृत्ति सहन नहीं हुई, क्योंकि वे शुरू से ही आर्य समाजों के राष्ट्र—प्रेम को देखते हुए उसे राज्य—द्वाही संस्था समझने लगे थे। मुसलमानों को आर्य समाज से दूर रखने के लिए अंग्रेजों ने दो उपाय किये।

उन दिनों पढ़—लिखे मुस्लिम युवकों पर दो व्यक्तियों का खास प्रभाव था। एक थे सर सैयद अहमद और दूसरे थे मिर्ज़ा गुलाम अहमद कादियानी। अंग्रेजों ने सर सैयद अहमद को अलीगढ़ यूनिवर्सिटी खोलने का प्रलोभन देकर फोड़ा, और मिर्ज़ा को धन का प्रलोभन देकर आर्य समाज के मुकाबले के लिए तैयार किया, ताकि सुशिक्षित मुस्लिम युवक आर्य समाज के प्रभाव में न आ सकें।

सर सैयद ऋषि के भक्त और प्रशंसक थे। परन्तु इस योजना के बाद वे भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन के, जिसके उस समय आर्य समाज और कांग्रेस ये दो प्रतीक थे, विरोधी हो गये और कट्टर—रूप में अंग्रेज़—परस्त हो गये। मिर्ज़ा गुलाम अहमद ने भी आर्य समाज के विरोध में ट्रैक्ट और किताबें लिखकर प्रचार करना शुरू कर दिया। अंग्रेजों की कृपा से धन की कमी तो उनको रही ही नहीं।

शुरू—शुरू में सिख बन्धु जब आर्य समाज में शामिल होने लगे तब अंग्रेजों ने सिखों को अलग करने के लिए भी इसी प्रकार की चाल चली और खालसा कालेज खोलकर सिखों को हिन्दुओं से अलग करने का षड्यन्त्र रचा जिसका दुष्परिणाम आज खालिस्तान के आतंकवादी आन्दोलन के रूप में भुगतना पड़ रहा है। अलीगढ़ यूनिवर्सिटी का परिणाम हम देश के विभाजन के रूप में भुगत ही चुके हैं।

जब मिर्ज़ा गुलाम अहमद ने वैदिक धर्म के सम्बन्ध में सर्वथा मिथ्या और अनर्गल बातें लिखनी शुरू कीं, तो वैदिक धर्म के दीवाने पं० लेखराम सहन नहीं कर सके। उन्होंने तर्क, युक्ति और प्रमाणों सहित सटीक उत्तर देना शुरू किया। उससे मिर्ज़ा के मिथ्या प्रलाप की पोल खुलने लगी। पं० लेखराम के तर्कों का उससे उत्तर देते नहीं बना तो उसने अपने चमत्कारों का ढिंडोरा पीटते हुए आर्य समाजियों को भी चुनौती दी कि वे कदियान आकर स्वयं मेरे चमत्कारों को देखें, तब उनको

विश्वास हो जायेगा कि खुदा के द्वारा मुझे इलहाम आता है या नहीं। पं० लेखराम ने इस चुनौती को भी स्वीकार कर लिया और स्वयं कादियान पहुंच गये। दो महीने तक कादियान में रहकर मिर्ज़ा के चमत्कारों की प्रतीक्षा करते रहे, किन्तु चमत्कार न होने थे, न हुए। मिर्ज़ा अहमद लगातार टाल—मटोल करते रहे। तब पं० लेखराम ने कादियान में आर्य समाज की स्थापना की और मिर्ज़ा के गढ़ में ही उसको चुनौती देने वाले आर्य युवकों को तैयार किया। पाठकों को जानकर आश्चर्य होगा कि मिर्ज़ा गुलाम अहमद के च्येरे भाई इमामदीन और मुल्ला हुसैना भी नियम—पूर्वक इस आर्य समाज के सदस्य बने थे, जो उस समय मुस्लिम युवकों के सम्बन्ध में कही गई हमारी बात का ही प्रमाण है।

अपने लहू से

जब मिर्ज़ा गुलाम अहमद अपने आसमानी चमत्कार नहीं दिखा सका और उसके मुरीदों में ही उसकी इज़्ज़त घटने लगी, तब उसने प्रचारित किया कि मुझे खुदा की ओर से इल्हाम हुआ है कि एक साल के अन्दर—अन्दर पं० लेखराम को अपने कुफ़्र का नतीजा भोगना पड़ेगा और उसे खुदा के कहर का शिकार होना पड़ेगा। इस भविष्यवाणी का क्या अर्थ हो सकता है, यह बताने की ज़रूरत नहीं। परन्तु पं० लेखराम का जिस तरह से बलिदान हुआ उससे इस भविष्य—वाणी का रहस्य समझ में आ जाता है। पं० लेखराम के इस बलिदान को कादियानियों ने उस भविष्यवाणी के सही होने के विजय—घोष के रूप में प्रचारित किया, जिससे रही—सही शंका भी जाती रही।

मिर्ज़ा अहमद तो कोई चमत्कार नहीं दिखा सके, परन्तु पं० लेखराम के इस बलिदान ने सचमुच एक चमत्कार कर दिया।

कहते हैं, अन्त समय में व्यक्ति के सामने अपने जीवन के कर्मों का कच्चा—चिट्ठा उभरने लगता है। मिर्ज़ा ने अपनी मृत्यु से चार दिन पूर्व “पैगामे सुलह” नामक पुस्तक लिखी, जिसे एक तरह से मिर्ज़ा की वसीयत ही कहा जां सकता है। उसमें लिखा था—

(१) हम अहमदी लोग भविष्य में सदैव वेद को सत्य मानेंगे। वेद और इसके ऋषियों की प्रतिष्ठा करेंगे और उनका नाम आदर से लेंगे।

(२) हम वेद को ईश्वर की ओर से आया मानते हैं और उसके ऋषियों को महान् और पवित्र समझते हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि वेद मनुष्य की रचना नहीं, क्योंकि मनुष्य की रचना में यह शक्ति नहीं होती कि वह करोड़ों को अपनी ओर खींच सके।

(३) यदि वेद की शिक्षा में कुछ भूलें प्रतीत होती हैं तो वे वेदों की न होकर भाष्यकारों की भूलें समझते हैं।

(४) वेद में कहीं भी कोई बुद्धि-विरुद्ध बात नहीं और ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में उसमें कहीं पक्षपात का दोष नहीं।

(५) शांति के इच्छुक लोगों के लिए यह सान्त्वना की बात है कि इस्लाम में जितनी शिक्षा पाई जाती हैं, वह वैदिक धर्म की किसी न किसी शाखा-प्रशाखा में पहले से ही विद्यमान है।

क्या यह मिर्ज़ा गुलाम अहमद द्वारा अपने पाप का अन्त समय में प्रायशिच्चत नहीं है?

यह है वह चमत्कार जो पं० लेखराम के अद्भुत बलिदान ने करके दिखाया। अपने लहू से पं० लेखराम जिस ऋषि की कहानी लिख गये, यह उस ऋषि की विजय है, वैदिक धर्म की विजय है और है पं० लेखराम की विजय। जो बोले सो अभय।

५ मार्च १९६१



“आर्यसमाज आस्तिकता का पक्षपाती है, परन्तु अन्य आस्तिक मतों से आर्यसमाज की आस्तिकता भिन्न है। अन्य आस्तिक मत किसी—न—किसी साकार या व्यक्ति—रूप ईश्वर (Personal God) में विश्वास करते हैं या अनेक देवों को आराध्य माते हैं; जबकि आर्यसमाज केवल एक निराकार, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर में विश्वास करता है। निराकार ईश्वर अवतार लेकर या जन्म धारण करके साकार नहीं बन सकता। सर्वज्ञ ईश्वर को किसी काल विशेष की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। ईश्वर सर्वव्यापक है, इसलिए वह किसी मन्दिर, मस्जिद या गुरुद्वारे में, या क्षीर—सागर और कैलास में, या चौथे या सातवें आसमान पर विराजमान नहीं हो सकता। ‘सर्वशक्तिमान्’ होने के नाते रावण या कंस या शिशुपाल जैसे अत्याचारियों को मारने के छोटे—मोटे कार्यों के लिए उसे अवतार लेने की भी आवश्यकता नहीं।

निराकार होने के नाते किसी मूर्ति में ईश्वर के विग्रह की कल्पना करना गलत है और न ही मूर्ति के माध्यम से उसकी उपासना की जा सकती है। ईश्वर का साक्षात्कार केवल आत्मा के अन्दर ही सम्भव है, क्योंकि वहां आत्मा और परमात्मा दोनों एक—साथ विद्यमान हैं, जबकि मूर्ति में परमात्मा की विद्यमानता स्वयं—सिद्ध होने पर भी किसी तरह जीवात्मा की विद्यमानता सिद्ध नहीं की जा सकती। परमात्मा का दर्शन वहां ही सम्भव है, जहां आत्मा और परमात्मा दोनों ही साथ—साथ विद्यमान हों; और वैसा स्थान केवल जीवात्मा में ही सम्भव है, मूर्ति में नहीं। इसलिए अष्टधा या नवधा भक्ति से या अनेकधा पूजा विधियों से नहीं; प्रत्युत योगदर्शन द्वारा वर्णित अष्टांग—योग के मार्ग से ही; जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश है, परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है।”

—‘चयनिका’, पृष्ठ ६९

सुभाषित

दुःखेष्वनुद्दिग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतराग-भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जिसका मन दुःखों से विचलित नहीं होता, सुखों में जिसकी लालसा नहीं, जो राग, भय और क्रोध से परे है, वही स्थिर बुद्धि वाला है। उसी को मुनि व महात्मा कहा जाता है।

जिसे किसी वस्तु के प्रति स्नेह नहीं, जो शुभ को प्राप्त करके प्रसन्न नहीं होता और अशुभ को पाकर अप्रसन्न नहीं होता, वही स्थितप्रज्ञ है।

— भगवद् गीता, अध्याय २, श्लोक ५६,५७

स्थित-प्रज्ञ महात्मा हंसराज

संसार में ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो सुख की कामना नहीं करता और दुःख को दूर नहीं रखना चाहता? सच तो यह है कि हमारी सारी चेष्टाएं और क्रियाएं केवल इसीलिए होती हैं कि किसी तरह सुख मिले और हम दुःख से बचे रहें। सुख पाने और दुःख से बचने की यह लालसा जन्मजात है, स्वाभाविक है। इसीलिए सुख पाकर प्रसन्न होना और दुःख पाकर विचलित हो उठना भी उतना ही स्वाभाविक है। बचपन से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक यही प्रवृत्ति मनुष्य के प्रत्येक कर्म को संचालित करती है। इसी प्रयोजन से मनुष्य कर्म करता है और यदि यह प्रयोजन न हो तो शायद मनुष्य कर्म करना भी छोड़ देता।

हम विद्या क्यों पढ़ते हैं? धन क्यों कमाते हैं? मकान क्यों बनाते हैं? परिवार क्यों जोड़ते हैं? इष्ट—मित्रों की संगति में क्यों रहना चाहते हैं? हमसे वैरभाव रखने वालों को हम क्यों अपने पास भी नहीं फटकने देना चाहते? इसीलिए न कि हमें उनसे अशुभ की आशंका रहती है? इतना ही नहीं, अपने आलोचकों के प्रति हमारे मन में द्वेष भी जड़ जमाकर बैठ जाता है और वे हमारा अशुभ कर पावें, इससे पहले ही हम अपनी ओर से उनका अशुभ करने की मन ही मन योजना बनाते रहते हैं। सुख के प्रति, सुखदायक वस्तुओं के प्रति हमारा राग तथा दुःखदायक वस्तुओं के प्रति द्वेष भी उतना ही स्वाभाविक है।

पर यह बात सामान्य पुरुषों के लिए ही ठीक है। विशिष्ट पुरुषों के लिए नहीं। तभी तो हम उन्हें असामान्य समझकर महापुरुष की संज्ञा से अभिषिक्त करते हैं।

हरेक मनुष्य के अन्दर कहीं न कहीं पशुत्व छिपा होता है। जिस प्रकार पशु अपनी जन्मजात प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) से अलग नहीं हो सकता, उसी प्रकार सामान्य पुरुष भी राग-द्वेष की जन्मजात प्रवृत्ति से अछूता नहीं रह सकता। पर यदि यही सर्वकालीन सत्य हो तो 'मनुष्य' कहां टिकेगा, वह 'पशु' ही नहीं बना रहेगा? तब तो मनुष्य—जन्म पाकर उसके लिए जो धर्म—अर्थ—काम—मोक्ष ये चार पुरुषार्थ नियत हैं, उनका क्या होगा? आहार, निद्रा, भय, प्रजनन आदि तो मनुष्य और पशु में समान ही होते हैं। जो त्याग मनुष्य को पशु से पृथक् करता है, वही तो धर्म है। उसके बिना मोक्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

थोड़ी गंभीरता से सोचें तो सुख—दुःख और उनके कारण—भूत राग—द्वेष भी आखिर क्या हैं? क्या वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं? क्या जन्म का अर्थ मृत्यु नहीं है, क्योंकि जन्म हो तो मरण भी अवश्यम्भावी है? इसी तरह सुख का अर्थ भी तो दुःख ही है, क्योंकि सुख की लालसा में ही दुःख छिपा हुआ है। जिस तरह दिन है तो रात भी है, और ये दिन और रात दोनों बारी—बारी से आते रहते हैं, उसी तरह सुख है तो दुःख भी अवश्य है, और वे भी दिन और रात की तरह बारी—बारी से आते रहते हैं। दिन के बाद रात, रात के बाद दिन। सुख के बाद दुःख, दुःख के बाद सुख। ये दोनों क्रमशः परिवर्तित होते रहते हैं। महाकवि कालिदास ने इसीलिए कहा है—

चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दुःखानि च।

—सुख और दुःख दोनों चक्र की तरह घूमते रहते हैं, चक्र का कभी एक हिस्सा ऊपर आ जाता है, कभी दूसरा।

वास्तव में सुख और दुःख दोनों सापेक्ष शब्द हैं। एक नहीं, तो दूसरा भी नहीं। एक है, तो दूसरा भी अवश्य है। अपने आप में दोनों अलग—अलग अस्तित्व—शून्य हैं। गर्मियों में ठण्डा शर्बत अच्छा लगता है, पर वही ठण्डा शर्बत कोई आपको भरी सर्दियों में पेश करे, तो आपको कैसा लगेगा? कहीं आप उसे मन ही मन पागल तो नहीं कहने लगें? एक छोटा—सा परीक्षण करके ही क्यों न देख लें? गरम पानी में से हाथ निकाल कर सादे पानी में डालिये, ठण्डा लगेगा। फिर ठण्डे पानी में से दूसरा हाथ निकालकर सादे पानी में डालिये, तो वह गरम लगेगा। पर सादा पानी तो निरा सादा पानी है, वह न ठण्डा है, न गरम, पर आपको परिस्थिति—विशेष में वह ठण्डा भी लगा और गरम भी। यही बात सुख और दुःख के साथ भी है। जिसे आप सुख समझते हैं, वही परिस्थिति—विशेष में दुःख लग सकता है। और जिसे आप दुःख समझते हैं, खिंचते हैं, पर वही आपको सुख लग सकता है। फिर जो आपके लिए दुःख है, वह औरों के लिए सुख हो सकता है। आज भी दुनिया में अपने दुःख से दुःखी होने वाले उतने नहीं हैं जितने दूसरों के सुख से दुःखी होने

वाले हैं। फिर दुहरा रहे हैं – औरों के सुख से दुःखी। और इसी का अर्थ है – दूसरों के दुःख से सुखी। औरों को कष्ट में देखकर, उनका शोषण करके, अपने सुख के साधनों का सरंजाम करने वालों की भी आज कमी थोड़े ही है।

कहने का भाव यह है कि सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति द्वेष चाहे कितना ही स्वाभाविक क्यों न हो, पर मानव-जीवीन को उच्चतर स्तर पर स्थापित करने वाला नहीं है। इसीलिए स्थित-प्रज्ञ महापुरुष सुख और दुःख में समानभाव से व्यवहार करते हैं। क्योंकि उनके सामने जीवन का कोई उच्च लक्ष्य होता है। महात्मा हंसराज इसी कोटि के स्थितप्रज्ञ महापुरुष थे – दुःख में अनुद्विग्न और सुख में विगत-स्पृह। स्थितप्रज्ञ की यही तो पहली परिभाषा है। (ऊपर सुभाषित देखें)। उदाहरण लीजिये—

—महात्मा हंसराज के पुत्र बलराज पर सन् १९११ में दिल्ली दरबार के समय लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकने के षड्यंत्र में शामिल होने के आरोप में मुकदमा चला और अन्त में काले पानी की सजा हुई। जिस दिन अदालत में यह निर्णय सुनाया जाना था, उसी दिन महात्मा जी को जालन्धर में आर्यसमाज के उत्सव पर जाना था। महात्मा जी अदालत में गये, फैसला सुना और वहां से सीधे स्टेशन पहुंच कर जालन्धर रवाना हो गये। जालन्धर में जितने समय रहे, उन्होंने किसी से उस सजा की चर्चा तक नहीं की। सारा आर्यजगत् इस अभियोग के परिणाम की बड़ी उत्सुकता और चिन्ता से प्रतीक्षा कर रहा था। अगले दिन लोगों ने जब अखबारों में क्रान्तिकारी बलराज को काले पानी की सजा का समाचार पढ़ा, तब सभी हतप्रभ रह गये – हतप्रभ केवल सजा की भयंकरता पर ही नहीं, वरन् महात्मा जी की अद्भुत स्थितप्रज्ञता पर भी।

इस प्रकार की घटनाएं महात्मा जी के जीवन में भरी पड़ी हैं। उन सबका वर्णन करने से लेख इतना बढ़ जाएगा कि स्थान उसकी अनुमति नहीं देता। इसलिए अन्त में केवल एक ही घटना का उल्लेख कर प्रसंग समाप्त करते हैं—

सन् १९३३ में अजमेर में ऋषि-निर्वाण-अर्ध-शताब्दी के अवसर पर कुछ आर्यबन्धु वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज की सेवा में उपस्थित होकर बोले—“आप महात्मा हंसराज जी को परामर्श दीजिए कि वे संन्यास लेकर चारों आश्रमों की मर्यादा का पालन करें।” स्वामी सर्वदानन्द जी ने कहा—“अरे पगलो! वह तो सफेद कपड़ों में भी संन्यासियों से अधिक त्यागी, तपस्वी और सुख-दुःख की भावना से ऊपर हैं, केवल कपड़े रंगने से क्या होगा?”

त्यागमूर्ति महात्मा हंसराज की स्थितप्रज्ञता का इससे बढ़कर प्रमाण—पत्र और क्या होगा?

सुभाषित

साहित्य-पाठोनिधि-मन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।
यतस्य देत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थ-चौराः प्रगुणीभवन्ति ॥

हे कवियों और लेखकों! साहित्यरूपी सागर के मन्थन से कानों और हृदय को आप्यायित करने वाले अमृत की यत्नपूर्वक रक्षा करो; क्योंकि उस साहित्य की चोरी के लिए और लूटमार के लिए दैत्यों की तरह कुछ लोग लगातार बढ़ते चले जा रहे हैं।

साहित्य-अकादमी के पुरस्कार बिकाऊ हैं

भारत सरकार ने साहित्य की उन्नति और अभिवृद्धि के लिए जो सर्वोच्च संस्था बनाई है, उस साहित्य-अकादमी की ओर से प्रतिवर्ष समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य के श्रेष्ठ लेखकों को पुरस्कृत किया जाता है और प्रायः प्रत्येक लेखक को २५ हजार रुपये की पुरस्कार-राशि भेट की जाती है। परन्तु जिस प्रकार अन्य सरकारी-तंत्रों का अवमूल्यन हुआ है और उनमें भ्रष्टाचार बढ़ा है, उसी की झलक अब साहित्य-अकादमी के इन पुरस्कारों में भी दिखाई देने लगी है। पता लगा है कि अब ये पुरस्कार भी बिकाऊ हो गए हैं, अलबत्ता कोई चुस्त बोली लगाने वाला चाहिए।

पाठकों, हम होली-संबंधी कोई व्यंग्य नहीं लिख रहे हैं। न ही हास्य-विनोद लिखने का इरादा है। हम तो असली वाक्या बयान कर रहे हैं।

इस वर्ष साहित्य-अकादमी ने सलाहउद्दीन परवेज़ के उपन्यास 'आइडैंटिटी कार्ड' को पुरस्कृत किया है। यह उपन्यास १६८६ में दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसे सलमान रशदी के 'सैटेनिक वर्सेज' का सृजनात्मक जवाब बताया जाता है। इस उपन्यास के प्रकाशक एक सांसद हैं। प्रकाशक की ओर से किताब के फैलैप के आखिरी तरफ लिखा गया है कि सलाहउद्दीन परवेज़ ने यह उपन्यास लिखकर पूरी इंसानियत पर एहसान किया है।

ये परवेज़ साहब कौन हैं, इसका भी कच्चा-चिट्ठा सुन लीजिए। स्वयं साहित्य अकादमी के सदस्य और मशहूर शायर शहरयार ने परवेज़ पर लिखे एक लेख में स्वीकार किया है कि परवेज़ खूब दौलतमंद हैं और उस दौलत से मैं भी फायदा उठाता हूँ। परवेज़ पर निकाले गये इस विशेष अंक में सुरैया सैयद ने अपने लेख में लिखा है कि परवेज़ दुनियां के बेहतरीन हवाई जहाजों में सफर करते हैं, दुनियां के बेहतरीन होटलों में ठहरते हैं, बेहतरीन खुशबुएं इस्तेमाल करते हैं, हज़ारों नहीं,

लाखों खर्च करते हैं और अमेरिकी बैंकों का वीज़ा कार्ड इस तरह इस्तेमाल करते हैं जैसे सिनेमा का फ्री पास।

पाकिस्तान के प्रख्यात उर्दू कहानीकार हमेश ने सलाहुद्दीन परवेज़ को एक खत में लिखा : 'अभी हाल में भारत से आये एक कहानीकार ने बताया कि तुमने साहित्य—अकादमी के कुछ सदस्यों को अपने उपन्यास पर इनाम दिलवाने के लिए रिश्वत देने की कोशिश की, जबकि इनाम की रकम रिश्वत से कम थी।' इस चिट्ठी से रहस्योदघाटन हुआ कि सलाहुद्दीन परवेज़ ने उर्दू के कई आलोचकों और लेखकों का हर महीने वजीफ़ा बांध रखा है। उर्दू के २४ लेखकों, आलोचकों और सम्पादकों की ऐसी सूची पाकिस्तान के समाचार—पत्र 'इमरोज़' में छपी है जो सलाहुद्दीन के लिए कथित तौर पर वजीफ़ा लेकर लिखते हैं। पाकिस्तानी अखबारों ने स्पष्ट लिखा है कि परवेज़ पैसा देकर लिखवाते हैं। भारत में भी उनके लिये नियमित तौर पर लिखने वालों में महमूद हाशमी और प्रो० गोपीचन्द्र नारंग के नाम लिये जाते हैं। पत्रिका के अनुसार परवेज़ ने दिल्ली में एक कम्प्यूटर—सेन्टर खोल रखा है, जिसमें कुछ शोधकर्मियों सहित कई मशहूर लेखक उनके लिए लिखते हैं।

परवेज़ दौलतमंद हैं, यह किसी से ढाका—छिपा नहीं है। उर्दू पढ़ने वाला हर कोई जानता है कि परवेज़ की किताबों जैसी छपाई अब तक उर्दू की किसी किताब की नहीं हुई है। उनकी किताबों पर तीन पते होते हैं। एक अलीगढ़ का, दूसरा सऊदी अरब का और तीसरा कैलिफोर्निया का।

परवेज़ अब तक एक दर्जन से ज्यादा किताबें लिख चुके हैं और रांची विश्वविद्यालय में उर्दू के प्रख्यात आलोचक सैयद वहाब अशरफी के मार्गदर्शन में उन पर पी०एच०डी० हो रही है। जो साहब उन पर पी०एच०डी० कर रहे हैं, उनको परवेज़ ने दिल्ली में एक शानदार फ्लैट दे रखा है। ये साहब दिल्ली के जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में इन्हीं वर्षों में एम०फिल० भी कर रहे हैं। परवेज़ पर पी०एच०डी० कराने वाले प्रो० अशरफी भी कम फायदे में नहीं रहे हैं।

इस सबसे स्पष्ट होता है कि पुरस्कार 'आइडैंटी कार्ड' को नहीं, परवेज़ को और उनकी चातुरी को दिया गया है। साहित्य अकादमी का इस हद तक पतन हो जाएगा, इसकी उम्मीद किसी उर्दू वाले को भी नहीं थी। क्योंकि परवेज़ के जिस उपन्यास पर यह पुरस्कार दिया गया है, उससे अच्छी और स्तरीय कम से कम पचास किताबें पिछले तीन वर्षों में निकल चुकी हैं और साहित्यकारों में काफी चर्चित भी रही हैं।

पिछले दस सालों से लोगों में यह बात फैली हुई थी कि परवेज़ साहब अकादमी के सदस्यों को तरह—तरह से उपकृत करते रहे हैं। अकादमी के एक अत्यन्त प्रभावशाली सदस्य तो जी—जान से जुटे रहे हैं और उन्होंने परवेज़ की हर किताब

सुभाषित

साहित्य-पाठ्योनिधि-मन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।

यत्तस्य देत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थ-चौराः प्रगुणीभवन्ति ॥

हे कवियों और लेखकों! साहित्यरूपी सागर के मन्थन से कानों और हृदय को आप्यायित करने वाले अमृत की यन्त्रपूर्वक रक्षा करो; क्योंकि उस साहित्य की चोरी के लिए और लूटमार के लिए दैत्यों की तरह कुछ लोग लगातार बढ़ते चले जा रहे हैं।

साहित्य-अकादमी के पुरस्कार बिकाऊ हैं

भारत सरकार ने साहित्य की उन्नति और अभिवृद्धि के लिए जो सर्वोच्च संस्था बनाई है, उस साहित्य-अकादमी की ओर से प्रतिवर्ष समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य के श्रेष्ठ लेखकों को पुरस्कृत किया जाता है और प्रायः प्रत्येक लेखक को २५ हजार रुपये की पुरस्कार-राशि भेंट की जाती है। परन्तु जिस प्रकार अन्य सरकारी-तंत्रों का अवमूल्यन हुआ है और उनमें भ्रष्टाचार बढ़ा है, उसी की झलक अब साहित्य-अकादमी के इन पुरस्कारों में भी दिखाई देने लगी है। पता लगा है कि अब ये पुरस्कार भी बिकाऊ हो गए हैं, अलबत्ता कोई चुस्त बोली लगाने वाला चाहिए।

पाठकों, हम होली-संबंधी कोई व्यंग्य नहीं लिख रहे हैं। न ही हास्य-विनोद लिखने का इरादा है। हम तो असली वाक्या बयान कर रहे हैं।

इस वर्ष साहित्य-अकादमी ने सलाहउद्दीन परवेज़ के उपन्यास 'आइडैंटिटी कार्ड' को पुरस्कृत किया है। यह उपन्यास १६८६ में दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसे सलमान रशदी के 'सैटेनिक वर्सेज' का सृजनात्मक जवाब बताया जाता है। इस उपन्यास के प्रकाशक एक सांसद हैं। प्रकाशक की ओर से किताब के फैलैप के आखिरी तरफ लिखा गया है कि सलाहुद्दीन परवेज़ ने यह उपन्यास लिखकर पूरी इंसानियत पर एहसान किया है।

ये परवेज़ साहब कौन हैं, इसका भी कच्चा-चिट्ठा सुन लीजिए। स्वयं साहित्य अकादमी के सदस्य और मशहूर शायर शहरयार ने परवेज़ पर लिखे एक लेख में स्वीकार किया है कि परवेज़ खूब दौलतमंद हैं और उस दौलत से मैं भी फायदा उठाता हूँ। परवेज़ पर निकाले गये इस विशेष अंक में सुरैया सैयद ने अपने लेख में लिखा है कि परवेज़ दुनियां के बेहतरीन हवाई जहाजों में सफर करते हैं, दुनियां के बेहतरीन होटलों में ठहरते हैं, बेहतरीन खुशबुएं इस्तेमाल करते हैं, हज़ारों नहीं,

लाखों खर्च करते हैं और अमेरिकी बैंकों का वीज़ा कार्ड इस तरह इस्तेमाल करते हैं जैसे सिनेमा का फ्री पास।

पाकिस्तान के प्रख्यात उर्दू कहानीकार हमेशा ने सलाहुद्दीन परवेज़ को एक खत में लिखा : 'अभी हाल में भारत से आये एक कहानीकार ने बताया कि तुमने साहित्य-अकादमी के कुछ सदस्यों को अपने उपन्यास पर इनाम दिलवाने के लिए रिश्वत देने की कोशिश की, जबकि इनाम की रकम रिश्वत से कम थी।' इस चिट्ठी से रहस्योदाघटन हुआ कि सलाहुद्दीन परवेज़ ने उर्दू के कई आलोचकों और लेखकों का हर महीने वजीफ़ा बांध रखा है। उर्दू के २४ लेखकों, आलोचकों और सम्पादकों की ऐसी सूची पाकिस्तान के समाचार-पत्र 'इमरोज़' में छपी है जो सलाहुद्दीन के लिए कथित तौर पर वजीफ़ा लेकर लिखते हैं। पाकिस्तानी अखबारों ने स्पष्ट लिखा है कि परवेज़ पैसा देकर लिखवाते हैं। भारत में भी उनके लिये नियमित तौर पर लिखने वालों में महसूद हाशमी और प्रो० गोपीचन्द्र नारंग के नाम लिये जाते हैं। पत्रिका के अनुसार परवेज़ ने दिल्ली में एक कम्प्यूटर-सेन्टर खोल रखा है, जिसमें कुछ शोधकर्मियों सहित कई मशहूर लेखक उनके लिए लिखते हैं।

परवेज़ दौलतमंद हैं, यह किसी से ढका-छिपा नहीं है। उर्दू पढ़ने वाला हर कोई जानता है कि परवेज़ की किताबों जैसी छपाई अब तक उर्दू की किसी किताब की नहीं हुई है। उनकी किताबों पर तीन पते होते हैं। एक अलीगढ़ का, दूसरा सऊदी अरब का और तीसरा कैलिफोर्निया का।

परवेज़ अब तक एक दर्जन से ज्यादा किताबें लिख चुके हैं और रांची विश्वविद्यालय में उर्दू के प्रख्यात आलोचक सैयद वहाब अशरफी के मार्गदर्शन में उन पर पी०एच०डी० हो रही है। जो साहब उन पर पी०एच०डी० कर रहे हैं, उनको परवेज़ ने दिल्ली में एक शानदार फ्लैट दे रखा है। ये साहब दिल्ली के जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में इन्हीं वर्षों में एम०फिल० भी कर रहे हैं। परवेज़ पर पी०एच०डी० कराने वाले प्रो० अशरफी भी कम फायदे में नहीं रहे हैं।

इस सबसे स्पष्ट होता है कि पुरस्कार 'आइडैंटिटी कार्ड' को नहीं, परवेज़ को और उनकी चातुरी को दिया गया है। साहित्य अकादमी का इस हद तक पतन हो जाएगा, इसकी उम्मीद किसी उर्दू वाले को भी नहीं थी। क्योंकि परवेज़ के जिस उपन्यास पर यह पुरस्कार दिया गया है, उससे अच्छी और स्तरीय कम से कम पचास किताबें पिछले तीन वर्षों में निकल चुकी हैं और साहित्यकारों में काफी चर्चित भी रही हैं।

पिछले दस सालों से लोगों में यह बात फैली हुई थी कि परवेज़ साहब अकादमी के सदस्यों को तरह-तरह से उपकृत करते रहे हैं। अकादमी के एक अत्यन्त प्रभावशाली सदस्य तो जी-जान से जुटे रहे हैं और उन्होंने परवेज़ की हर किताब

पर कई—कई लेख लिखकर अनेक पत्र—पत्रिकाओं में छपवाये हैं। आखिर परवेज़ साहब साहित्य अकादमी का यह पुरस्कार ले ही उड़े।

अब 'आइडेंटिटी कार्ड' की विशेषता सुनिये, जिसे सलमान रशदी की 'सैटेनिक वर्सेज' की किताब का सटीक जबाब बताया गया है। सलमान रशदी का अपराध यदि कुछ था तो केवल इतना कि उसने पैगम्बर से लेकर इस्लाम के बड़े व्यक्तियों के नाम तोड़—मरोड़ कर और विकृत करके छापे थे, जबकि उसने जो कुछ लिखा था, उसमें गलत कुछ नहीं था; क्योंकि वह सब हदीसों में वर्णित घटनाओं पर आधारित था। पर इसी कारण मतांध मुसलमान रशदी के इतने पक्के दुश्मन हो गये कि अयातुल्लाह खुमैनी जैसे ईरान के तानाशाह ने उनके नाम मौत का फतवा जारी कर दिया, जो आज तक कायम है और रशदी को ब्रिटेन में छिपकर रहना पड़ रहा है। इधर परवेज़ ने अपने उपन्यास में उर्दू के बड़े—बड़े लेखकों और शायरों के नाम तो बिगाड़ कर लिखे ही हैं, परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द जैसे अमर हुतात्मा के लिए जिन अपमान—जनक शब्दों का प्रयोग किया है, उन्हें कोई भी समझदार और सहृदय व्यक्ति सहन करने को तैयार नहीं होगा। यदि आर्य समाज में भी कोई अयातुल्लाह खुमैनी होता तो इसी बात के लिए परवेज़ के विरुद्ध फतवा जारी न करता? पर नहीं, आर्य समाज में ही क्यों, हम तो कहेंगे कि समस्त हिन्दू समाज में खुमैनी जैसे असहिष्णु और मतांध व्यक्ति नहीं हैं। आर्य वीरों ने सदा अपने विरोधियों के वार झेल कर अपनी छातियां भले ही खून से रंगी हों, पर आज तक अपने किसी विरोधी की हत्या करके अपने हाथ खून से नहीं रंगे।

पर प्रश्न यह है कि स्वामी श्रद्धानन्द जैसे व्यक्ति का अपमान क्या चुपचाप सहन कर लिया जाय? या साहित्य—अकादमी से इसका जवाब—तलब किया जाय? यदि साहित्य—अकादमी के पुरस्कार इसी तरह बिकते रहे तो भविष्य में उसके लिए नीलामी की बोली बोलने वाले न जाने कैसे—कैसे लोग तैयार हो जाएंगे!

२२ मार्च १९६२



'निन्दन्तु नीतिनिपुणा, यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु, गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु, युगान्तरे वा।
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥'

— 'नीतिशतक', ८४

"चाहे नीतिज्ञ व्यक्ति निन्दा करें, या स्तुति; वैभव आये या चला जाए, आज ही मृत्यु हो जाए या एक युग के बाद! धैर्यशाली मनीषी कभी भी न्यायोचित पथ से विचलित नहीं होते!"

सुभाषित

नाभिषेको न संस्कारः, सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य, स्वयमेव मृगोन्दता॥

हितोपदेश० १६

बन के पशु सिंह का न तो राज्याभिषेक करते हैं और न कोई अन्य संस्कार, किन्तु सिंह अपने पराक्रम से ही बन के राज्य को हथिया लेता है और स्वतः पशुओं का राजा बन जाता है।

सावरकर को ऐसे अन्ध-भक्तों से बचाओ!

अट्टाईस मई को वीर सावरकर की पुण्यतिथि है। हमें खेद है कि इस अवसर पर हम एक अप्रिय प्रसंग छेड़ रहे हैं। परन्तु सत्य तो सत्य ही है, कटु लगने पर भी उसे स्वीकार करना ही होगा।

यह बात सर्व-विदित है कि सावरकर जो भी कुछ थे, वे श्याम जी कृष्ण वर्मा की उपज थे और श्याम जी कृष्ण वर्मा ऋषि दयानन्द के पट्ट-शिष्य थे। ऋषि ने ही देश की आजादी का आन्दोलन चलाने के लिए उनको विदेश भेजा था। भारत के अधिकांश क्रान्तिकारी उर्ही के संसर्ग में आकर और 'इण्डिया-हाउस' में रहकर ही क्रान्तिकारी बने थे। स्वयं सावरकर ने अण्डमान के काला-पानी में कारावास भोगते हुए यह स्वीकार किया है कि वहाँ उनके कार्यों में जितना सहयोग आर्यसमाजी क्रान्तिकारियों ने दिया, उतना अन्य किसी ने नहीं।

परन्तु अब सावरकर के भक्त उनको इस रूप में चित्रित करने लगे हैं, जैसे कि आर्य-समाज के कर्ता-धर्ता और आर्यसमाज के समस्त आन्दोलनों के संचालक केवल सावरकर ही थे। उदाहरण के रूप में सावरकर-साहित्य में हाल में ही प्रकाशित एक लेख हमारे सामने आया है, जिसका शीर्षक है—वीर सावरकर — भाग्यनगर मुक्ति—संग्राम के धर्मयोद्धा। यह सारा लेख गलत, बयानियों का पुलिन्दा है। इसमें यह सिद्ध किया है कि सन् ३६ में आर्यसमाज ने निजाम रियासत में जो सत्याग्रह—आन्दोलन किया था, उस सबके संचालक और सर्व—सर्वा सावरकर ही थे। इस लेख से यह भी ध्वनित होता है कि सावरकर की ही किसी

योजना के अनुसार ऋषि दयानन्द ने जन्म लेकर अन्त में उन्हीं की योजना को सफल करने के लिए पंजाब में आर्यसमाज का प्रचार किया था।

यह सब तथ्य के कितना विपरीत है, यह हम जानते हैं। उस सत्याग्रह का प्रथम सत्याग्रही होने का सौभाग्य हमें भी प्राप्त हुआ है इसलिए उसके आदि से अन्त तक के सारे इतिहास को हम बखूबी जानते हैं। इसमें आर्यसमाज के कर्तृत्व का निरन्तर अवमूल्यन करके इन अन्ध-भक्तों ने अपने आराध्य वीर सावरकर को ही इस आन्दोलन का सारा श्रेय दिया है। लेख में यहाँ तक लिखा है कि शोलापुर में हुए आर्य-महासम्मेलन का अध्यक्ष बनने के लिए लोकमान्य बापू अणे को उन्होंने ही भेजा था और उन्होंने ही आन्दोलन के आर्य-समाजी सर्वाधिकारी नियुक्त किये थे। नारायण स्वामी जी को उन्होंने ही सर्वप्रथम सर्वाधिकारी बनाया था और उसके बाद बनने वाले सब आर्यसमाजी सर्वाधिकारी उन्हीं के परामर्श से नियुक्त किये गये थे। परन्तु लेख के लेखक को समस्त सर्वाधिकारियों के नाम भी मालूम नहीं हैं और उन्होंने महात्मा नारायण स्वामी जी के अलावा केवल चान्दकरण शारदा (जिसको लेखक ने अज्ञान-वश 'चन्द्रकिरण' नाम दिया है) तथा केवल महाशय कृष्ण के नाम का ही उल्लेख किया है। जबकि अन्य पाँच सर्वाधिकारियों के नाम भी उसे मालूम नहीं। लेखक ने निजाम के सारे सत्याग्रह को सावरकर द्वारा संचालित विश्व-हिन्दू-साम्राज्य का अंग माना है। परन्तु वह विश्व-हिन्दुत्व कहाँ है, यह तो कहीं दिखाई नहीं देता। उलटे, आज तो सारे संसार में कट्टर इस्लाम-वाद की धूम मची हुई है।

हमारी जाति की एक बहुत बड़ी दुर्बलता रही है कि अपने आराध्य-देव को वह लोकोत्तर सिद्ध करने में लगी रहती है। जिस तरह पौराणिक काल में शैव, वैष्णव और शाक्त आदि सम्रदाय अपने-अपने इष्ट देवों को अन्य सब देवताओं से बड़ा एवं उत्तम बताकर अपने देवता की केवल आराधना करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते रहे हैं, उसी तरह यह सावरकर के अन्ध-भक्त भी सावरकर को 'विश्व-नियन्ता' सिद्ध करना चाहते हैं। भक्ति-काल के सन्तों ने इस प्रकार की भक्ति की इतनी पराकर्षा कर दी कि समस्त हिन्दू जाति को स्त्रैण बना दिया और उसका सारा पराक्रम और आक्रामकता छीन ली। हिन्दू-महासभा के अन्ध-भक्त सावरकर को उसी तरह लोकोत्तर बनाने में लगे हुए हैं, जिस प्रकार गाँधी के भक्तों ने गाँधी को, नेहरु को, इन्दिरा-भक्तों ने इंदिरा को, राजीव-भक्तों ने राजीव गाँधी को परम-इष्ट-देव की तरह पूजना प्रारम्भ किया है। अब भी यह मनोवृत्ति समाप्त नहीं हुई है। जिन स्वयंभू काँग्रेसी नेताओं का कोई अपना जनाधार नहीं है, वे सोनिया और प्रियंका तक की उसी प्रकार की भक्ति में दत्तचित्त हैं। किसी

काँग्रेसी नेता में इतना मनोबल नहीं है कि वह गाँधी की भूलों का जिक्र करने की हिम्मत कर सके।

अब भी हर वर्ष दो अक्टूबर या तीस जनवरी को दूरदर्शन और रेडियो का भौंपू इस गीत को गुंजाने में कसर नहीं छोड़ता—

‘सावरमती के सन्त ।
तूने कर दिया कमाल ।
दे दी हमें आजादी
बिना खड़ग बिना ढाल ।’

परन्तु यह सत्य का कितना बड़ा अपलाप है, यह हरेक इतिहासकार जानता है। गाँधी ने सन् ४२ में ‘करो या मरो’ आन्दोलन बेशक चलाया था, परन्तु उन्होंने कभी स्वप्न में कल्पना भी नहीं की थी कि यह आन्दोलन हिंसात्मक रूप धारण कर लेगा। महात्मा गाँधी तो यहाँ तक कहते थे कि हिंसा से प्राप्त स्वराज्य मुझे नहीं चाहिए। अगर वह आन्दोलन हिंसात्मक बना तो गाँधी की बदौलत नहीं, परन्तु उन समस्त क्रान्तिकारियों की बदौलत और युवकों के साहस की बदौलत जिन्होंने अंग्रेजी राज के विरोध में पूर्णतः विद्रोहात्मक कमर कस ली थी। क्या देश की आज़ादी में जय प्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया और अरुणा आसफली का कोई योगदान नहीं, जिन्होंने भूमिगत रहकर इस आन्दोलन का संचालन किया? क्या देश की आज़ादी में नौ-सैनिकों के विद्रोह और नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की ‘आज़ाद हिन्दू फौज’ का कोई योगदान नहीं?

हम पूछते हैं कि देश की आज़ादी के पश्चात् जिस हिन्दू-महासभा को देश की सबसे सबल राजनैतिक पार्टी बनना चाहिए था, वह सबसे दुर्बल पार्टी बनकर क्यों रह गई? अखिर स्वामी श्रद्धानन्द ने काँग्रेस को और हिन्दू महासभा को क्यों छोड़ा था? हिन्दू महासभा के अनेक नेताओं से हमारा व्यक्तिगत परिचय भी है। परन्तु हमें यह कहने में संकोच नहीं कि देश के समाज-सुधार में, या दलितोद्धार आदि के कार्य में, अथवा शिक्षा के द्वारा नई पीढ़ी को तैयार करने में उस सभा का कोई योगदान नहीं है। अगर हिन्दू महासभा सशक्त होती तो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ या विश्व हिन्दू परिषद् या बजरंग दल या शिव-सेना या त्रिशूल-वाहिनी और सिंह-वाहिनी जैसी आक्रामक हिन्दुत्व-वादी संस्थाओं के जन्म लेने की आवश्यकता ही न पड़ती। अब भी हिन्दू महासभा के नेताओं का अधिकांश ज़ोर उन समस्त संस्थाओं के विरोध में जितना लगता है, उतना किसी हिन्दू समाज के रचनात्मक कार्य में नहीं। यही उसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है।

उक्त लेख में और भी अनेक गलत—बयानियाँ हैं, उन सबका उल्लेख करने से लेख लम्बा हो जाएगा इसलिए हम उसका अधिक विस्तार नहीं करना चाहते। इस सारे काण्ड में वीर सावरकर जैसे महाप्राण पुरुष से प्रेरणा लेने के बजाय अपनी अन्ध—भक्ति के द्वारा अपनी निजी अकर्मण्यता को छिपाने का छल ही दिखाई देता है। इसमें दोष सावरकर का नहीं है। उस महापुरुष को अपनी इस अन्धभक्ति से अलौकिक और सर्वनियन्ता सिद्ध करने के बजाय उनके अद्भुत बलिदानी जीवन से प्रेरणा लेने में ही हिन्दू महासभा के कार्यकर्त्ताओं की सार्थकता है, इतिहास का अपलाप करने या आर्य समाज के कर्तृत्व का अवमूल्यन करने में नहीं। ऐसे अन्धभक्तों से वीर सावरकर को बचाओ, अन्यथा अपनी अन्धभक्ति के आवेश में वे उसे बदनाम करके छोड़ेंगे।

३१ मई १९६२



“गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर हम छात्र ही पण्डाल की सजावट के लिए अपने हाथों से देवमंत्रों, सुभाषितों, श्लोकों और दोहों को लिखकर टांगा करते। जब मैं सप्तम कक्षा में आया, तो न जाने मुझे क्या सूझी कि मैंने अंग्रेजी का मोटो बनाया। उससे पहले वहां अंग्रेजी का मोटो नहीं बना होगा, परम्परा ही नहीं थी। मैंने वह अंग्रेजी वाला मोटो मंच के ठीक पीछे ऐसे स्थान पर लगा दिया जहां आते ही सबसे पहले उसी पर दृष्टि पड़े। वार्षिकोत्सव के पहले दिन अन्बाला से कई गुरुकुल के भक्त, दानी, पर अंग्रेजों के पिट्ठू ‘महापुरुष’ आए। पण्डाल में घुसते ही उनकी नज़र उस मोटो पर पड़ी। वे आग बबूला हो उठे। उन्होंने गुरुकुल के अधिकारियों से कहकर वह मोटो वहां से उतरवा दिया और कहा कि जिस विद्यार्थी ने यह मोटो बनाया है, उसे गुरुकुल से तुरन्त निकाल दो। अधिकारियों को यह पता भी नहीं था कि वह किसने बनाया है। पाठक पूछेंगे— अखिर वह मोटो क्या था जिसने सांड के सामने लाल कपड़े का काम किया था। वह मोटो था अब्राहम लिंकन का एक छोटा—सा वाक्य—”

If slavery is not wrong, nothing is wrong

उस ज़माने के सरकार—परस्त इस वाक्य को कैसे पचाते?”

—‘चयनिका’, आत्मकथ्य से, पृष्ठ ७